आधुनिक काव्य-संग्रह

•

संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

आधुनिक काव्य-संग्रह

संग्रहकर्त्ता

डॉ० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०





शकाब्द १८८५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ग्यारहवाँ संस्करण २१०० (शक १८८३)
बारहवाँ संस्करण २१०० (शक १८८५)

मूल्य १.५० न० पै०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बंबई अधिवेशन में महाराज बड़ौदा ने स्वयं उपस्थित होकर सम्मेलन को पाँच सहस्र की धनराशि सहायतार्थ भेंट की थी। उस धनराशि से सम्मेलन ने 'सुलभ-साहित्य-माला' का संचालन प्रारम्भ किया। इस उपयोगी ग्रंथमाला से जितनी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उनसे विद्वान् एवं हिन्दी-प्रेमी पूर्णतया परिचित हैं। 'आधुनिक काव्य-संग्रह' इस ग्रंथमाला का एक सुगन्धिमय पुष्प है, जिसे यशःप्राप्त कवि, आलोचक और एकांकीकार डॉ० रामकुमार वर्मा जी ने बड़े मनोयोग से सँवार कर सजा कर प्रस्तुत किया है।

इस संग्रह में सुरुचि और उत्कृष्टता का पूर्ण सामंजस्य है। इस संग्रह के माध्यम से मध्यमा परीक्षा के परीक्षार्थियों को आधुनिक हिन्दी काव्य की समस्त प्रवृत्तियों का सुगमता से बोध हो जाएगा। आशा है परीक्षार्थियों के लिए यह काव्य संग्रह परिचयचारुता बढ़ाने का प्रमुख साधन सिद्ध होगा।

—साहित्य-मंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

दो शब्द

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखते हुए सम्मेलन की आज्ञानुसार, मैंने आधुनिक काव्य का यह संग्रह तैयार किया है। कविताओं के संग्रह में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए ऐसी कविताएँ दी जायँ जिनसे एक ओर तो उन्हें हिन्दी-साहित्य की प्रगति का परिचय मिले और दूसरी ओर वे कवि-विशेष की शैली से भी परिचित हो जायँ। आशा है, इस संग्रह से उपर्युक्त दोनों बातों की पूर्ति हो सकेगी।

—रामकुमार वर्मा

साकेत, प्रयाग
१५-३-४७

कवि-नामावली

श्री मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी हिन्दी के यशस्वी राष्ट्र कवि हैं। उनका काव्य-काल द्विवेदी युग से प्रारम्भ होकर वर्तमान युग तक फैला है। हिन्दी कविता का विकास-क्रम उनकी रचनाओं में भलीभाँति स्पष्ट है।

'भारत भारती' उनकी लोकप्रियता का सर्वप्रथम प्रतीक है। वह राष्ट्र की वाणी है, जिसने एक बार जन-जन के हृदय को छूकर उसको स्वदेश के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के पुंजीभूत गौरव से भर दिया। 'जयद्रथ-वध' तथा 'रंग में भंग' आदि अन्य ग्रन्थों में उन्होंने इत्तिवृत्तात्मक कथा-शैली को ही अधिक प्रधानता दी है। 'हरिगीतिका' उनका प्रिय छंद रहा है। वर्णन प्रधान होने के कारण उनकी भाषा क्लिष्ट न होकर सर्वत्र ही सरल एवं सुबोध है।

गुप्त जी कवि के उत्तरदायित्व से सदा ही सजग रहे हैं और उन्होंने काव्य की किसी भी प्रचलित धारा को अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाने दिया।

खड़ी बोली में रामकाव्य के वे एकमात्र प्रतिनिधि हैं। साकेत में रामकाव्य के चिर उपेक्षित चरित्र उर्मिला और कैकेयी पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। जैसे तुलसी ने रामभक्त होकर भी कृष्ण विषयक पद लिखे हैं, उसी प्रकार उन्होंने 'द्वापर' की रचना की। लगभग सभी प्रकार की रचना करने के कारण समन्वय की ओर उनका स्वाभाविक

झुकाव हो गया। अपनी शक्ति को काव्य तक ही सीमित रखकर भी उन्होंने हिन्दी की जितनी सेवा की है, उतनी कई लेखक मिलकर नहीं कर सके।

'यशोधरा' उनके कवि का सबसे विकसित एवं स्वस्थ रूप है। इसके पश्चात् 'नहुष', 'कुणालगीत', 'काबा और कर्बला' आदि अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई जिनके द्वारा उनका व्यक्तित्व और भी निखर गया। 'काबा और कर्बला' में राष्ट्र कवि होने की सार्थकता मूर्तिमान है। भारतीय राष्ट्र की जनता के चतुर्थांश मुसलमानों के धार्मिक तीर्थों की कवि ने उपेक्षा नहीं की। 'झंकार' इनके रहस्यवादी गीतों का संग्रह है। परन्तु गुप्त जी का रहस्यवाद पौराणिक अधिक है।

चन्द्रहास तथा तिलोत्तमा जैसे दो नाटक भी लिखे हैं, परन्तु इस रूप में वे असफल ही रहे। हाँ, अनुवाद के क्षेत्र में उन्हें अत्यन्त सफलता मिली है। 'विरहिणी ब्रजांगना' तथा 'मेघनाद वध' बँगला से अनूदित हैं। उमर खैय्याम की रूबाइयों का भी अनुवाद उन्होंने किया है।

हिन्दी से गुप्त जी को गौरव तथा आदर दोनों ही मिले। आयु के साथ वे गुरु हो चले और आदर के स्वरूप 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' (साकेत पर सं० १९९३ में), गुप्त-जयन्ती, मैथिलीमान ग्रन्थ आदि कितने उदाहरण हैं।

मैथिलीशरण जी की काव्य-रचना के पीछे एक युग है। आज भी जब छायावाद-रहस्यवाद को पार करके हिन्दी साहित्य प्रगतिवाद के घेरे में बँध रहा है, वे सृजन के पवित्र कार्य से उदासीन नहीं हैं।

साकेत के प्रथम सर्ग से उद्धृत यह अंश पूर्णतया काल्पनिक है। लक्ष्मण

तथा उर्मिला के सरस जीवन की झाँकी देने के लिए कवि ने परिस्थितियों को स्वतः अपने अनुकूल बना लिया। दम्पत्ति के इस जीवन में आधुनिकता की कुछ हल्की-सी छाप है। वार्तालाप की दृष्टि से यह भाग अत्यंत ही उत्कृष्ट है। उर्मिला के चरित्र की यह मनोमोहक पृष्ठभूमि उसकी व्यथा को नवम सर्ग में अधिक तीव्र बना देती है।

साकेत

सौध सिंह द्वार पर अब भी वही।
बांसुरी रसरागनी में बज रही है।।
अनुकरण करता उसी का कीर है।
पंजर-स्थित जो सुरम्य शरीर है।।
उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की।
या यहाँ दो खंजनों की सृष्टि की।।
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ।
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ।।
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा?"
पार्श्व से सौमित्र आ पहुँचे तभी।
और बोले "लो बता दूँ मैं अभी।।
नाक का मोती अधर की कान्ति से।
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है।
सोचता है अन्य शुक यह कौन है?"

यों वचन कह कर सहास्य विनोद से।
मुग्ध हो सौमित्र मन के मोद से॥
पद्मिनी के पास मत्त मराल से।
हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से॥
चारु चित्रित भित्तियाँ भी वे वड़ी।
देखती सी रह गईं मानो खड़ी॥
प्रीति से आवेग मानो था मिला।
और हार्दिक हास आँखों में खिला॥
मुस्कुराकर अमृत बरसाती हुई।
रसिकता में सुरस सरसाती हुई॥
उर्मिला वोली "अजी तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
"मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ।
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ॥"

उर्मिला का विरह व्याकुल हृदय साकेत के नवम सर्ग की पंक्ति-पंक्ति में घुल गया है। उसके आँसुओं से उसके त्याग की महानता भीग उठी है। काव्य के दृष्टिकोण से यह सर्ग अन्य सभी सर्गों से श्रेष्ठ है। विप्रलम्भ श्रृंगार का मनोवैज्ञानिक चित्रण इसी में हुआ है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रबन्ध - काव्य में मुक्तक-गीत शैली का यह पहला सफल प्रयोग है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !
व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक बुद्बुद् दे रहा ॥

× × ×

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग तो जलता ही है, दीपक भी जलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता —
'बंधु, वृथा ही तू क्यों दहता ?'
पर पतंग पड़ कर ही रहता
कितनी विह्वलता है।
दोनों और प्रेम पलता है ॥

बचकर हाय पतंग करे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है ॥

कहता है पतंग मन मारे—
तुम महान् मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
शरण किसे छलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है ॥

दीपक के जलने में आली।
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली।

किसका वश चलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिक्वृत्ति है रखती।
उसे चाहती जिससे चलती,
काम नहीं, परिणाम-निखरती।

मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है॥

× × ×

बता अरी अब क्या करूँ रूपी रात से रार।
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारू झखमार॥

× × ×

अरी सुरभि जा, लौट जा, अपने अंग सहेज।
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज॥

× × ×

सखि नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता।

अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता ॥
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता ।
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता ॥

यशोधरा गुप्त जी की कला का चरम विकास है। भगवान् बुद्ध की अर्धांगिनी की महत्ता, स्त्री-हृदय की निश्चल अभिव्यक्ति, सभी कुछ बहुत सुन्दर रूप में बन पड़ा है। साकेत के नवम सर्ग की कला का यह परिवर्द्धित संस्करण है। भावनाओं के अध्ययन में मनोवैज्ञानिकता का पुट है।

देखी मैंने आज जरा।
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा?
हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण सुवर्ण खरा?
सूख जायगा मेरा उपवन जो है आज हरा?
सौ सौ रोग खड़े हों सम्मुख, पशु ज्यों बँधा परा,
धिक्! जो मेरे रहते, मेरा चेतन जाय चरा!
रिक्त मात्र है क्या, सब भीतर बाहर भरा भरा?
कुछ न किया, यह सूना भव भी यदि मैंने न तरा,
× × ×
पड़ी रह तू मेरी भव-भुक्ति।
मुक्ति-हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति, मुक्ति बस मुक्ति।

मेरा मानस-हंस सुनेगा और कौन सी युक्ति?
मुक्ताफल निर्द्वन्द्व चुनेगा, चुन ले कोई शुक्ति।

× × ×

प्रियतम तुम श्रुति-पथ से आये।
तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर-कपाट लगाये।
मेरे हास-विलास! किन्तु क्या भाग्य तुम्हें रख पाये?
दृष्टि-मार्ग से निकल गये थे तुम रसमय मन भाये
प्रियतम तुम श्रुति-पथ से आये।
यशोधरा क्या कहे और अब, रहो कहीं भी छाये।
मेरे ये निःश्वास व्यर्थ, यदि तुमको खींच न पाये।

× × ×

प्रियतम तुम श्रुति-पथ से आये॥
चेरी भी वह आज कहाँ कल थी जो रानी;
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी?
अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।
मेरा शिशु-संसार वह
दूध पिये, परिपुष्ट हो।
पानी के ही पात्र तुम
प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो॥

× × ×

यह छोटा सा छौना
कितना उज्ज्वल, कैसा कोमल, क्या ही मधुर सलौना !
क्यों न हँसू, रोऊँ, गाऊँ मैं, लगा मुझे यह टोना,
आर्य पुत्र, आओ, सचमुच मैं दूँगी चंद खिलौना ।

'झंकार' युग के साथ रहने का सजग प्रयास था। इसकी कविताएँ रहस्यवादी सी हैं। आत्मा-परमात्मा का मधुर सम्बन्ध ही इनका आलम्बन है। गुप्त जी के रहस्यवाद में धार्मिकता की छाप है।

अच्छी आँख मिचौनी खेली।
वार वार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली।
किसी शान्त एकान्त कुंज में तुम जाकर सो जाओ।
भटकूँ इधर उधर मैं इसमें क्या रस है वतलाओ ?
यदि मैं छिपूं और तुम खोजो अनायास ही पाओ।
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूं मैं, जाने भी दो, आओ।
करें वैठ रँगरेली।
अच्छी आँख मिचौनी खेली।
पर जव तुम हो सभी कहीं, तव मैं ही क्यों यों भटकूँ।
चाहूँ जिधर उधर ही अपना भार पटक कर सटकूँ।
इसकी भी क्या आवश्यकता जो वाहर पर अटकूँ।
अन्तर के ही अन्धकार में क्यों न पीत पट झटकूँ।
वन अपनी ही चेली।
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

× × ×

ये गीत 'कुणाल गीत' से लिये गये हैं। यह पुस्तक सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल, जिसको उसकी विमाता तिष्यरक्षिता ने नेत्रहीन करवा दिया था, के भाव-गीतों का संग्रह है।

परिपाक हो पाया न रस का, रंगशाला फिर गई,
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।
अब हैं कहीं वे नट-नटी?
बात बहुत दिन की रटी?
यह पड़ गई सब पर पटी?
कृषि सी तिमिर की निर गई।
लो बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।
पल में बुझी दीपावली,
जो झलमलाती थी भली।
यह कौन सी आँधी चली,
काली घटा आ घिर गई।
लो बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

× × ×

मैं नई पहेली बूझ रहा!
बाहर मुझे न दीखे कुछ भी,
भीतर सब कुछ सूझ रहा।
मैं भीतर ही देखूँ-भालूँ,
अन्ध-सिन्धु के रत्न निकालूँ

वह अमृत-भागी है मेरा,
जो निज विष से जूझ रहा।
मैं नई पहेली बूझ रहा।

× × ×

'काबा'

हुआ प्रकृति से जो विध्वस्त,
उसे पुरुष ही करे प्रशस्त।
फिर, पहले से भी अभिराम,
खड़ा हुआ गिर काबा धाम।
उसमें वह 'असबद' पाषाण,
जिसके चुम्बन में कल्याण,
अरे कौन संस्थापित आज?
लगा झगड़ने अरब समाज।
जन जन वहाँ बड़प्पन मार,
जता उठा अपना अधिकार।
करे कौन अब पथ-प्रकाश?
न हो यादवों-सा कुल नाश।
"वीर बन्धुओं न हो अधीर"
सहसा शब्द हुआ गम्भीर—
"रहने दो यह अशुभ विवाद"
मान्य मुहम्मद का था नाद।

प्रभु समक्ष, सोचो टुक मौन,
बड़ा कौन छोटा है कौन?
तने न भौंह न खिंचे कमान,
उनके जन हम सभी समान।
वीर, दिखाओं धीर विवेक,
बिछा बड़ी सी चादर एक,
रख उस पर पावन पाषाण,
सभी उठाओ, पाओ त्राण।"
"साधु मुहम्मद, साधु सुयुक्ति,
मिली हमें संकट से मुक्ति।
हाथ लगावें सब अनिवार्य,
करो तुम्हीं संस्थापन-कार्य"

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्यायजी खड़ी बोली के सबसे पुराने वयोवृद्ध कवि रहे हैं। अयोध्या =औध; सिंह=हरि और इस प्रकार अयोध्या सिंह से "हरिऔध" होकर वे द्विवेदी काल से आजीवन साहित्य की सतत सेवा करते रहे। उनका व्यक्तित्व अपने स्वतंत्र रूप में क्रियाशील रहा। गुप्त जी की तरह उन पर महावीर प्रसाद द्विवेदी की छाप नहीं पड़ी।

इन्होंने कृष्णकाव्य को अपना क्षेत्र चुना और इस प्रकार सूरदास का उत्तराधिकार सहज ही ले लिया। उपाध्यायजी उन साहित्यिकों में से थे, जिनका हाथ हिन्दी काव्य की नींव रखने में लगा था। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के सन्धिकाल के वे मूर्तस्वरूप रहे हैं क्योंकि उन्होंने दोनों ही भाषाओं में रचना की है। रीतिशास्त्र तथा संस्कृत का हरिऔधजी ने सुन्दर अध्ययन किया था और उसी के फलस्वरूप नायिका भेद में 'रसकलस' तथा कृष्णपरक काव्य में 'प्रिय प्रवास' की सृष्टि हुई। 'रसकलस' में अनेकानेक नवीन, नायिकाओं का समावेश है, जो नायिका भेद की मनोवैज्ञानिकता को सुरक्षित न रख सका; फिर भी इसकी रसात्मकता में कोई संदेह नहीं।

प्रिय-प्रवास एक युगप्रवर्तक महाकाव्य है। एक तो यह आद्योपान्त अतुकान्त है, दूसरे सारे ग्रन्थ में संस्कृत छन्दों का प्रयोग है। हिन्दी के उस काल में यह संकल्प अपनी सफलता में महान् है। इसकी भूमिका हरिऔध जी की अध्ययनशीलता का लिखित स्वरूप है। ग्रन्थ की भाषा स्वभावतः

संस्कृत-गर्भित हो गयी है और सम्भवतः इसी दोष का निराकरण करने के लिए उन्होंने अन्य रचनाएँ आवश्यकता से अधिक सरल भाषा में की हैं। 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे', तथा 'बोल-चाल' आदि उसके उदाहरण हैं। मुहावरों की अधिकता इस शैली में सर्वत्र एक-सी है।

'वैदेही वनवास' उनकी नवीनतम रचना है और इसमें भाषा के दोनों स्वरूपों का समन्वय है। गुप्त जी ने जैसे 'द्वापर' लिखकर कृष्णकाव्य को अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाने दिया वैसे ही हरिऔधजी ने भी 'वैदेही वनवास' द्वारा रामकाव्य को नहीं छोड़ा।

कविता के अतिरिक्त हरिऔध जी की रचनाएँ गद्य में भी हैं। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' की शैली पर लिखी 'ठेठ हिन्दी का ठाट' पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'देवबाला' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाट' दोनों में ही भाषा की सजगता के साथ कथा-प्रवाह का भी भली प्रकार ध्यान रखा गया है।

उपाध्याय जी हिन्दी कविता के आचार्य थे। प्रिय-प्रवास पर सं० १९९५ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला और उनकी ७०वीं वर्षगाँठ पर आरा के हिन्दी-प्रेमियों द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया था।

प्रियप्रवास के सप्तम सर्ग में नंदजी का कृष्ण से मिलकर ब्रज लौट जाने का प्रसंग है। उनको बिना कृष्ण को लिये ही वापस आया देखकर यशोदा विलाप कर उठती हैं। वात्सल्य रस से पूरित ये पंक्तियाँ उसी दशा के वर्णन की हैं।

मालिनी छंद

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका है आज लौं जी सकी हूँ ?
वह हृदय हमारा नेत्रतारा कहाँ ?

पल पल जिसके मैं पंथ को देखती थी।
निशि-दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती ॥
उर पर् जिसके है सोहती मुक्त माला।
वह नव नलिनी से नेत्रवाला कहाँ है ॥

मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा ॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला।
सजल जलद की सी कांतिवाला कहाँ है ?

प्रतिदिन जिसको मैं अंक में नाथ लेके।
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी ॥
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला।
वह किसलय के से अंकवाला कहाँ है ?

बर-वदन बिलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल-गत होता व्योम का चन्द्रमा था ॥
मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधु-मय-कारी मानसों का कहाँ है ?

रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही।
सदन बिच बहाता स्वर्ग मंदाकिनी था॥
श्रुति बिच टपकाता बूँद जो था सुधा का।
यह नव खनि प्यारी मंजुता की कहाँ है?
स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी।
मम परम निराशा यामिनी का विनाशी॥
व्रज-जन विहंगों के वृंद का मोद-दाता।
वह दिनकर शोभी रामभ्राता कहाँ है॥

चतुर्थ सर्ग में राधिका का रूप वर्णन है। यहाँ पर समास शैली के कारण कविता बहुत क्लिष्ट तथा संस्कृत-शब्द प्रचुर हो गयी है, फिर भी वर्णन सुन्दर है।

शार्दूलविक्रीडित छंद

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभावारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदु-भाषिणी मृग-दृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं॥
फूले कंज समान मंजु-दृगता थी मत्तताकारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि-उन्मेषिनी॥
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति-सी।
काली कुंचित लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी॥

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला भ्रू-भंगिमा-पंडिता ।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता ।।
राधा थीं सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आंदोलिता ।
लाली थी करती सरोज-पग को भूपृष्ठ को भूषिता ।
बिम्बा विद्रुम आदि को निदरती थी रक्तता ओष्ठ की ।।
हर्षोत्फुल्ल-मुखारविन्द-गरिमा सौन्दर्य आधार थी ।
राधे की कमनीय-कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी ।।
सद्वस्त्रा - सदलंकृता - गुणयुता - सर्वत्र - सम्मानिता ।
रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र-चिन्तापरा ।।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका ।
राधा थी सुमना प्रसन्न-वदना स्त्री जाति रत्नोपमा ।।

'वैदेही वनवास' के 'स्वर्गारोहण' नामक अष्टदश सर्ग से उद्धृत यह प्रारम्भिक अंश प्रकृति सौंदर्य के चित्रण से पूर्ण है, प्रिय-प्रवास तथा इस पुस्तक दोनों ही में हरिऔध जी ने सर्ग का उद्घाटन प्रकृति वर्णन से किया है।

शीत-काल था वाष्पमय बना व्योम था ।
अवनी-तल में था प्रभूत कुहरा भरा ।।
प्रकृति-वधूटी रही मलिन-वसना बनी ।
प्राची सकती थी न खोल मुँह मुसकरा ।।
ऊषा आई किन्तु विहँस पाई नहीं ।
रागमयी हो बनी विरागमयी रही ।।

विकस न पाया दिगंगना-वर-वदन भी।
बात न जाने कौन गई उससे कही॥
ठंडी साँस समीरण भी था भर रहा।
था प्रभात के वैभव पर पाला पड़ा॥
दिन नायक भी था न निकलना चाहता।
उन पर भी था कु-समय का पहरा कड़ा॥

हरे भरे तरुवर मन मारे थे खड़े।
पत्ते कँप-कँप कर थे आँसू डालते॥
कलरव करते आज नहीं खग-वृन्द थे।
खेतों से वह मुँह भी थे न निकालते॥
कुछ उजियाला होता फिर घिरता तिमिर।
यही दशा लगभग दो घंटे तक रही॥
तदुपरान्त रवि किरणावली ने वन सबल।
मानों बातें दिवस-स्वच्छता की कही॥

कुहरा टला दमकने अवधपुरी लगी।
दिननायक ने दिखाई निज-दिव्यता॥
जन-कल-कल से हुआ आकलित कुल-नगर।
भवन-भवन में भूरि भर गई भव्यता॥
अवध-वर-नगर अश्वमेध-उपलक्ष से।
समधिक सुन्दरता से सज्जित हुआ॥
जन-समूह सुन जनक-नन्दिनी आगमन।
था प्रमोद-पयोधि में निमज्जित हुआ॥

'पद्म-प्रसून' उपाध्याय जी की विभिन्न प्रकार की रचनाओं का संकलन-ग्रन्थ है। अधिकांश रचनाएँ हिन्दू-गौरव से सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु अन्य विषयों की भी सुन्दर कविताएँ इसमें संगृहीत हैं।

आँसू

बाढ़ में जा बहे न बढ़ बोले।
किसलिये तो बहुत बढ़े आँसू॥
जो कलेजा न काढ़ पाया तो।
किसलिये आँख से कढ़े आँसू॥

अड़ं अगर बार-बार अड़ती हैं।
तो रहे क्यों नहीं अड़े आँसू॥
जो निकाले न जी कसर निकली।
आँख से क्यों निकल पड़े आँसू॥

फेर में डालते हमें जो थे।
तो फिराये न क्यों फिरे आँसू॥
जो किसी आँख से गये गिर तो।
किसलिये आँख से गिरे आँसू॥

हैं छलकते उमड़-उमड़ पड़ते।
देख नीचा नहीं डरे आँसू॥
आँख कैसे नहीं तरह देती।
बेतरह आज हैं भरे आँसू॥

तुलसी

वन राम-रसायन की रसिका
रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके,
जन मानस का मल सारा टरा ॥
बने पावन भाव की भूमि भली
हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी विलसे,
कविता लसी पा-तुलसी की कला ॥

जीवन-मरण

(कवित्त)

पोर-पोर में है भरी तोर मोर ही की बान,
मुँह, चोर बने आन-वान छोड़ बैठी है।
कैसे भले वार-बार मुँह की न खाते रहे,
सारी मरदानगी ही मुँह मोड़ बैठी है ॥
'हरिऔध' कोई कस कमर सताता क्यों न
कायरता होड़कर नाता जोड़ बैठी है।
छूट चलती है आँख दोनों ही गई है फूट,
हिन्दुओं में फूट आज पाँव तोड़ बैठी है ॥
'दाव मातें हैं' यह भाव वार-वार दब,
दाँत तले दूध दाब दाव के दिखावेंगे।

आँख देखने की है न उनमें तनिक ताब,
बात यह आँख मूँद-मूँद के बतावेंगे ॥
'हरिऔध' हिन्दुओं में हिम्मत रही ही नहीं,
हार को ही हार निज गले का बनावेंगे।
चोटी काट-काट के सचाई का सबूत देंगे,
यूनिटी को पाँव चाट-चोट के बचावेंगे ॥

चौपदे

ओस की बूँदे कमल-दल से कढ़ीं,
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनोखी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ ॥
एक फफोला सा हृदय पर था पड़ा
फूट करके वह अचानक बह गया।
आह! जो अरमान था इतना बड़ा,
आज वो कुछ बूँद बन कर रह गया ॥

श्री जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी हिन्दी जगत् की आधुनिक चेतना के अग्रदूत थे। मानव-जीवन के आभ्यन्तरिक रहस्यों का उद्‌घाटन करने की ओर प्रवृत्ति रहने के कारण से स्वभाव से ही गंभीर हो गये थे।

खड़ी बोली की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर भावना की अजस्र रसधार बहाकर उसे समतल बना दिया और उसी के साथ कल्पना के असंख्य अंकुर फूट पड़े। वे छायावाद तथा रहस्यवाद के प्रवर्तक थे और अपने ही जीवन काल में उन्होंने इन दोनों वादों का चरम उत्कर्ष भी देख लिया। मौलिकता उनकी प्रमुख विशेषता है, अनेक विषयों, शैलियों तथा कथावस्तुओं की उद्‌भावना उनके द्वारा हुई।

झरना, लहर, आँसू और कामायनी उनके कवि के विकास के चार सोपान हैं। एक के बाद दूसरा अपने स्वाभाविक क्रम से आता गया। पहली दो कृतियां गीत प्रधान हैं। आँसू के छंद मुक्तक होने पर भी असम्बद्ध नहीं हैं। कामायनी स्पष्ट ही प्रबन्ध काव्य है।

वे पाश्चात्य प्रभावों से विहीन एक स्वतंत्र चिंतक थे। संस्कृत साहित्य का मनन एवं चिंतन वे एकनिष्ठ होकर सदैव ही करते रहे। बौद्ध दर्शन का उनकी विचारधारा पर विशेष प्रभाव है। वे नियतिवादी थे।

इतिहास उनका अपना प्रिय विषय रहा है। लगभग उनके सारे नाटक अतीत से संबंधित हैं। चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु ध्रुवस्वामिनी तथा जनमेजय नागयज्ञ आदि उनके सफल नाटक हैं। वर्तमान की समस्याओं का समाधान वे अतीत के गर्भ से निकाल लाते थे। उनके नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व सर्वत्र ही प्रधान है। यह उनके नाटककार की कुशलता सूचित करता है। भाषा अधिकतर भावों को सम्हालती-सी कठिन एवं गहन हो गयी है, परन्तु क्लिष्टता उनका दोष न बनकर गंभीर समस्याओं के कारण गुण बन गयी है। उनके नाटकों पर अनभिनेयता का आरोप किया जाता था, पर अब तो कई नाटक अभिनीत भी हो चुके हैं।

इसके अतिरिक्त वे कहानीकार, उपन्यासकार तथा निबन्ध लेखक भी थे। 'आकाश-दीप', 'इन्द्रजाल' आदि उनके कहानी संग्रह हैं और 'कंकाल' तथा 'तितली' दो उपन्यास। तीसरा उपन्यास 'इरावती' अधूरा ही रह गया। 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' में उनके विचार संगृहीत हैं। फिर भी इन सब स्वरूपों में प्रधानतः वे नाट्यकार एवं कवि थे। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो वे केवल कवि ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि कवि-सुलभ कोमलता उनकी सभी कृतियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। कुछ भी हो, प्रसाद जी मानव हृदय की भावनाओं के सफल कलाकार हैं। मानव-मनोविज्ञान पर उनका विशेष अधिकार है।

कामायनी पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला, परन्तु मरने के बाद। प्रसाद जी की मृत्यु असमय में ही हो गयी। उनके निधन से हिन्दी की जितनी हानि हुई है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

कामायनी छायावाद का एकमात्र महाकाव्य है। प्रसाद जी ने जिस शैली को जन्म दिया है उसे अपने ही जीवन में कामायनी के द्वारा अन्त तक पहुँचा दिया। जल-प्लावन की पौराणिक गाथा के नायक मनु का आधार लेकर आदि मानव के मनोभावों एवं मनोविकारों का जितना सजीव चित्रण कामायनी के चिंता, इड़ा, काम आदि विभिन्न सर्गों में हुआ है उतना अन्यत्र सुलभ नहीं। कामायनी प्रसाद जी के काव्य की चरम सीमा है।

गीतों में रूपक-शैली के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत गीतात्मकता का यह स्वरूप भावना की तीव्रता का द्योतक है। भावों के वेग में सारी प्रबन्धकता टूक-टूक हो मुक्तक बनकर रह जाती है। इन पदों में श्रद्धाविहीन मनु के नीरस जीवन के चित्र जो इड़ा के मिलने पर फिर रंगीन हो गये, अंकित किये गये हैं।

जीवन-निशीथ के अंधकार !

तू नील तुहिन जलनिधि बनकर फैला है कितना वारपार
कितनी चेतनता की किरनें हैं डूब रहीं ये निर्विकार
कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका में अभंग
तू मूर्तिमान हो छिप जाता प्रतिपल के परिवर्तन अनंग
ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमें ज्योति कला
जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण भला
रे चिर-निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार।

जीवन-निशीथ के अंधकार!

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी वह रही चूमकर सब दिगंत
मन शिशु की क्रीड़ा नौकायें बस दौड़ लगाती है अनन्त
कुहुक न अपलक दृग के अंजन! हँसती तुझमें सुंदर छलना
धूमिल रेखाओं के सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल-पथ में छायी पिक प्राणों की पुकार
वन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल।

उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने जो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल
जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बना यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह, में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की
जब गूंजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अंबर अकूल
मन को जैसे चुभ गया शूल
बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलास चषक से दृग देते अनुराग-विराग ढाल

भ्रमर

गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रसधार लिये
दूसरा विचारों के नभ को मधुर अभय अवलम्ब दिये
त्रिबली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में भी गति भरी ताल

तीन रेखायें (सत्व, रज, तम)

स्मृति काव्य

'आँसू' प्रसाद जी का मुक्तक काव्य है। वेदना के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक आँसू के द्वारा नामकरण किया गया है। इसमें कुछ पंक्तियां रहस्यात्मक भी हैं परन्तु करुणा का भीगा सूत्र कृति को गूंथे हुए है।

जो घनीभूत पीड़ा थी;
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई।
इस करुणा कलित हृदय में;
क्यों विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती !
क्यों व्यथित व्योम गंगा-सी,
छिटकाकर दोनों छोरें।
चेतना तरंगिनी मेरी,
लेती है मृदुल हिलोरें ?

बुरा दिन

अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना ।
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना ।

जीवन की जटिल समस्या,
क्यों बढ़ी जटा सी कैसी ।
उड़ती है धूल हृदय में,
किसकी विभूति है ऐसी !

झंझा झकोर गर्जन था,
बिजली थी नीरद माला ।
पाकर इस शून्य हृदय को,
सब ने आ डेरा डाला ।

शशि मुख पर घूंघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये ।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये ।

'लहर' और 'झरना' प्रसाद के सरस मानस से निःसृत गीतों के दो आकलित स्वरूप हैं। 'लहर' के अंत की तीन-चार कविताएं अतुकांत होने पर भी भावविश्लेषण की दृष्टि से प्रसाद-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गीत तो रुचिर हैं ही।

बीती विभावरी जागरी!
अम्बर-पनघट में डुबो रही--
तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई--
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये--
तू कब तक सोयेगी आली,
आँखों में भरे विहाग री।

प्रलय की छाया

गुर्जर नरेश की रानी कमलावती अपने रूप के गर्व में डूबी प्रकृति में उसके आभास का आरोप करती हुई विचारों में तल्लीन है। कविता में आदि से अन्त तक मनोविश्लेषण एवं द्वन्द्व की छाया है। कविता का प्रारम्भ इस प्रकार है:

"थके हुए दिन के निराश जीवन की,
संध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में।
और उस दिन तो;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या में--
सीखती थी सौरभ से भरी रँग-रलियाँ।

दूरागत वंशीरव—
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में,
रन्ध्र खोजती थी; रजनी की नीली किरणें।

उसे उसकाने को—हँसने को वृद्धि के लिए।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगंध से
कस्तूरीमृग जैसी।
अलाउद्दीन के यहाँ कमलावती
पश्चिम जलधि में, अपने को कहती है।
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।

नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं। लज्जा भाव से
चरण हुए विजड़ित मधुभार से। (सौन्दर्य भाव से)
हँसती अनंग बालिकायें अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधुर अभिषेक में

नत शिर देख मुझे।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंग लतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।

श्री सूर्य्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

निराला जी का काव्य पौरुष-प्रधान है। उनका व्यक्तित्व उनकी पंक्ति-पंक्ति में सजीव हो उठा है। उनकी वाणी में ओज है और विचारों में दृढ़ता। ईश्वर के दो स्वरूपों—प्रकृति और पुरुष—में से यदि पंत जी प्रकृति के पुजारी हैं तो निराला जी पुरुष के उपासक हैं।

वे दार्शनिक थे और भारतीय परम्परागत अद्वैतवाद के प्रतिपादक थे। उनकी कविता इस प्रकार की गहन विचार-धारा से सर्वत्र ही जटिल तथा कहीं-कहीं अस्पष्ट है। इसी के कारण भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। निराला जी को संस्कृत के ढ़ंग की समास-शैली अधिक प्रिय थी, परन्तु इस शैली का प्रयोग वर्णनात्मक प्रसंगों में कथा-प्रवाह को वेग देने की दृष्टि से किया गया है। रूढ़ियों के प्रति क्रांति की एक सहज भावना उनमें सदा ही रही है। भावों के बंधन छंदों के बंधन सभी कुछ उन्होंने तोड़ डाले। हिन्दी में निराला जी अपने मुक्त छंद के लिए सबसे अधिक विख्यात हैं। गण तथा मात्रा से हीन केवल गति एवं लय के आधार पर चलने वाले और कभी-कभी उससे भी मुक्त अनेक छंदों का प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया है। पंक्तियों को नवीन-नवीन क्रम देकर अनेक छंद भी बनाय हैं।

निराला जी के व्यक्तित्व पर कई प्रकार के प्रभाव पड़े हैं। बंग-संस्कृति में उनका पोषण हुआ है इस कारण कवीन्द्र-रवीन्द्र, स्वामी विवेकानन्द

तथा माइकेल मधुसूदन दत्त आदि विभूतियों का प्रभाव उन पर स्पष्ट रूप से पड़ा। उनकी शब्द-योजना में भी बंगाली कविता की-सी झलक है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वे 'मतवाला' के द्वारा आये। उनके आगमन से हिन्दी जगत् में एक प्रकार की हलचल-सी मच गयी थी।

निराला जी की सौंदर्य-प्रियता, प्राकृतिक एवं मानव-जगत् दोनों से ही अपने आलम्बनों को चुनौती है। 'जुही की कली' में प्रकृति के उपादानों के आश्रय से अन्य पक्ष व्यंग्य हैं। फिर भी इस सौंदर्य-दर्शन में कोई आध्यात्मिक संकेत नहीं है।

'अनामिका' उनकी कविताओं का सर्वप्रथम संग्रह है। परिमल, गीतिका तथा कुकुरमुत्ता इसके बाद की रचनाएँ हैं। कुकुरमुत्ता स्वयं एक कविता है, जिससे हिन्दी जगत् भली-भाँति परिचित है। इस प्रकार की वस्तुएँ केवल प्रतीक के ही रूप में आती हैं क्योंकि कवि का उद्देश्य वस्तु-विशेष की ओर नहीं रहता, वरन् उसके आधार पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति करना ही उसका इष्ट होता है।

'तुलसीदास' सौ छंदों का खण्ड-काव्य है। इसमें महाकवि के मनोविज्ञान का सुन्दर अंकन है। शैली में निरालापन विद्यमान है। 'अनामिका' में संगृहीत 'राम की शक्तिपूजा' भी प्रबन्ध शैली की रचना है। ऐसी कविताओं में जितनी प्रौढ़ता निराला जी भर सके हैं उतनी और कोई कवि न पा सका। निराला जी हिन्दी के 'युगप्रवर्तक' कवि थे इस सत्य से हिन्दी साहित्य का प्रत्येक पाठक परिचित है।

वे उपन्यासकार, कहानीकार तथा निबन्ध-लेखक थे। अप्सरा, अलका, निरुपमा तथा, बिल्लेसुर बकरिहा, आदि उनके उपन्यास हैं और

लिली, सखी आदि कहानी-संग्रह। प्रबन्ध-पद्म में उनके कुछ लेख जो साहित्य के विभिन्न अंगों पर लिखे गये हैं, संगृहीत हैं।

'रवीन्द्र कविता कानन' में वे आलोचक के रूप में सामने आते हैं।

'राम की शक्ति पूजा' ऐसी कविता है जिस पर 'अनामिका' को गर्व है। सतुकान्त, सप्रवाह, सवेग तथा सगाम्भीर्य यह वर्णन शैली हिन्दी में अद्वितीय है। कल्पना का चरम विकास, भावना का परम उत्कर्ष दोनों एक ही स्थल पर गूँथ गये हैं। राम-रावण समर में शत्रु की शक्ति उपासना की सफलता के कारण राम को अपनी विजय अनिश्चित-सी प्रतीत हो उठी। उन्होंने शक्ति की पूजा की। यह उस समय उनकी भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्र है। यह अंश कविता के बीच से लिया गया है।

है अमा निशा उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यान मग्न; केवल जलती मशाल,
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय,
जो हुआ नहीं आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त—
एक भी, अयुत—लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थता मानता मन उद्यत हो हार हार;
ऐसे क्षण अन्धकार में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन
विदेह का-प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन

नयनों का नयनों से गोपन प्रिय सम्भाषण,
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन,
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग समुदाय,—
गाते खग नव जीवन परिचय, तरु मलय-वलय
ज्योति प्रताप स्वर्गीय,—ज्ञान छवि प्रथम स्वीय,
जानकी नयन कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।
सिहरा तन क्षण भर भूलों मन, लहरा समस्त
हर धनुभंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति, सीता ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व विजय-भावना हृदय में आई भर;
वे आये याद दिव्यशर अगणित मन्त्रपूत
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर,
फिर देखी भीममूर्ति आज रण देवी जो,
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ बुझ कर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन
खिंच गये दृगों में सीता के राममय-नयन,
फिर सुना, हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भावित नयनों से उजल गिरे दो मुक्ता-दल।

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय श्रृंग, और मैं चंचल-गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत-कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।

तुम सुरापान घन अंधकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति,
तुम दिनकर के खर किरण जाल, मैं सरसिज की मुस्कान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।

तुम हो रागानुग निश्चलतप, मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म; मैं मनमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार, मैं वेणी कालनागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥
तुम पथ हो मैं रेणु।

तुम हो राधा के मनमोहन, मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तर, पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा।

तुम शरद-सुधाकर-कला-हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।

तुम गंध कुसुम-कोमल पराग, मैं मृदु गति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव-रामचन्द्र मैं सीता अचला-भक्ति।
तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक कल कूजन-तान॥
तुम मदन पंचशर-हस्त, और मैं हूं मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल स्याम, मैं तड़ित्तुलिका-रचना।
तुम रण ताण्डव उन्माद नृत्य, मैं युवति मधुर नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद-वेद ओंकार-सार मैं कवि-श्रृंगार-शिरोमणि॥
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इन्दु अरविन्द-शुभ्र, तो मैं निर्मल हूँ व्याप्ति।

निराला जी का 'तुलसीदास' एक उच्चकोटि का सफल खण्ड-काव्य है। तुलसी का प्रथम अध्ययन, पश्चात् पूर्व संस्कारों का उदय, प्रकृति दर्शन और जिज्ञासा, नारी से मोह, मानसिक संघर्ष और अंत में नारी द्वारा ही विनय आदि वे मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हैं, जिन्हें लेकर कवि ने इस काव्य की कथा को विस्तार दिया है। इसमें ओजगुण का पूर्ण विकास है। जिसका साथ छंद और स्वयं कवि का व्यक्तित्व दोनों ही देते हैं।

ये पद्य पुस्तक के प्रारम्भ के हैं। यहां मुगल आक्रमण के समय के भारत की राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक अवनति का चित्र है।

भारत के नभ का प्रभा पूर्य,
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य।

अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिग्मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है उर्मिला जल निश्चलत्प्राण पर शतदल
शतदल अब्दों का सांध्यकाल
यह आकुंचित-भ्रू कुटिल भाल
छाया अम्बर पर जलद-जाल ज्यों दुस्तर;
आया पहले पंजाब प्रान्त
कोशल विहार तदनंत क्रान्त,
क्रमशः प्रदेश सब हुए भ्रान्त घिर-घिर कर।
मोगल-दल बल के जलद-यान,
दर्पित-पद उन्मद-नद पठान,
है बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर स्वर तर
छाया ऊपर घन अंधकार—
टूटता वज्र दह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलयधार, ध्वनि हर-हर।
रिपु के समक्ष जो था प्रचंड
आतप ज्यों तम कर करोद्दंड;
निश्चल अब वही बुंदेलखंड आभागत,
निःशेष सुरभि, कुरबक-समान
संलग्नवृन्त पर चित्य प्राण,
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान, छाया श्लथ॥

वह तोड़ती पत्थर

यह निराला जी की मुक्तछंद में लिखी कविताओं में से एक है, जिसमें केवल चित्रण एवं तथ्य कथन मात्र है; भाषा का रँगाव-सजाव नहीं ।

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर ।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, पर बँधा यौवन
नत नयन प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका; प्राकार ।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन;
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसती हुई लू
रूई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई

प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोड़ती पत्थर

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं;
सजा सहज सितार
सुनी मैंने वह, नहीं जो थी सुनी झंकार;
एक छन के वाद वह काँपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
मैं तोड़ती पत्थर

× × ×

गीतिका से

भारति, जय विजय करे !
कनक - शस्य - कमल धरे
लङ्का पदतल-शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।
तरु-तृण-वनलता वसन
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले ।

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशायें उदार,
शतमुख शतरव मुखरे ।
कैसी बजी बीन ?
सजी मैं दिन दीन !
हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी;
लीन स्वर सलिल में मैं बन रही मीन ।
स्पष्ट ध्वनि—'आ' धनि सजी यामिनी भली
मन्द पद आ बन्द कुंज उर की गली;
मंजु मधु-गुंजरित कलिदल-समासीन !
देख, आरक्त पटल-पाटल खुल गये,
माधवो के नये खुले गुच्छे नये,
मलिन मन, दिवस-निशि, तू क्यों रही क्षीण ।

(गीतिका)

श्री सुमित्रानन्दन पंत

पंत जी प्रकृति की क्रोड़ में पलने वाले अत्यन्त सुकुमार कवि हैं। नवीन युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विचार-धाराओं की रूप-रेखाएँ स्पष्ट या अस्पष्ट स्वरूप में उनके काव्य में मिल जायँगी।

प्रकृति निरीक्षण में उन्हें कविता की प्रेरणा मिली। उनकी जन्म-भूमि कूर्माञ्चल प्रदेश की सौन्दर्यात्मक अनुभूति ने उनकी सारी भावनाओं को रंग दिया। 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक की सभी रचनाओं में यह विशेषता किसी न किसी रूप में वर्तमान है; पंत जी के भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना भी इसी कारण आ गयी है। उनकी कल्पना जन-भीरु हो गयी। प्रकृति को उन्होंने सदैव ही सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। उससे तादात्म्य अनुभव किया है और यदा-कदा उसके उग्ररूप का भी चित्रण किया है, यद्यपि उसमें उनकी रुचि बहुत कम है। 'वीणा' और 'पल्लव' उनकी समस्त रचनाओं में विशेषतः प्राकृतिक-सहचर्य-काल की कृतियाँ हैं। भारतीय दर्शन से प्रभावित होकर वे 'पल्लव' से 'गुंजन' में सुन्दरम् से शिवम् की ओर अधिक झुक गये। 'गुंजन' तथा 'ज्योत्स्ना' में कल्पना अधिक सूक्ष्म तथा भावात्मक हो गयी। इस काल तक की रचनाओं में संघर्ष तथा हार्दिकता अधिक है और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा। इस प्रकार पंत जी धीरे-धीरे भावात्मकता से बौद्धिकता की ओर बढ़ते गये। 'ग्रन्थि' उनके मानसिक तन्तुओं की ग्रन्थि है।

छायावादी कवियों में पंत जी ऐसे कवि हैं जिन पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत अंश तक पड़ा। वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली तथा टेनिसन आदि अंग्रेजी के कवि तथा रवीन्द्र इन सबके प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।

युगान्त, युगवाणी तथा 'ग्राम्या' इन तीनों में उनकी विचारधारा का मोड़ नामकरण से ही प्रतीत होता है। जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक होकर जो कविताएँ उनकी लेखनी से उद्भूत हुईं वे सब इन संग्रहों में आकलित हैं। समाज के बन्धनों से जकड़े हुए मनुष्य, नारी तथा कलाकार के प्रति वह मौन रह सके। युग की इन परिस्थितियों से उनके कवि सुलभ कोमल हृदय में एक ठेस लगी और वे जीवन के सत्यम् की खोज में आकुल हो उठे। 'ग्राम्या' में उन्होंने ग्राम-जीवन के अगणित सहानुभूतिपूर्ण मार्मिक चित्र खींचे हैं। कुछ लोग उन पर बौद्धिक सहानुभूति प्रदर्शित करने का दोषारोपण करते हैं, परन्तु यह आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि पंत जी ने ग्रामों को व्यक्तित्व न देकर उन्हें सामन्तकालीन जीवन-प्रणाली का एक अंग तथा उस युग के खँडहर स्वरूप माना है।

पंत जी की भाषा में कोमलता है। उसमें कलात्मकता का आग्रह न होने पर भी सौंदर्य है। शब्द-ध्वनि की परख उन्हें चित्रों में झंकार उत्पन्न करने में सदा सहायता देती रहती है। खड़ी बोली को वे ब्रजभाषा की-सी मधुरता अपने शब्द-चयन की सजगता द्वारा प्रदान कर सके। विचार-पक्ष को वे कलापक्ष से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं इसी कारण वे इस शब्द कौशल की ओर आगे चलकर अधिक ध्यान न दे सके।

पंत जी ने छायावाद से प्रगतिवाद को मिला दिया है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वे प्रगतिवाद के दृष्टिकोण को अपनाने लगे पर छायावादी

प्र. प. नि. म.

शैली का फिर भी परित्याग न कर सके। प्रगतिवाद को वे उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम मानते हैं।

हिन्दी साहित्य को पंत जी ऐसी विभूतियों पर सदा गर्व रहेगा।

पल्लविनी में युगान्त की चुनी हुई कविताएँ संगृहीत हैं। पंत जी के काव्य-जीवन का विकास-क्रम इनसे सुविधा से जाना जा सकता है। प्रकृति के प्रति एक कोमल जागरूक दृष्टिकोण इन कविताओं की प्रमुख विशेषता है। कवि की आत्मा प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रत्येक कम्पन से सिहर उठती है। संग्रह का नाम इस दृष्टि से साभिप्राय है।

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन।
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर-अव्यय चिर-नूतन!

बरसो कुसुमों के मधुवन,
प्राणों के अमर प्रणय धन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन।

छू-छू जग के मृत रजकण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिंगन!

बरसो सुख बन सुखमा बन,
बरसो जग - जीवन के घन !
दिशि-दिशि में औ पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अज्ञान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तम साकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार,
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास

न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, विथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों के कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन ?

स्वर्ण सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कंठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर;
न जाने अलस पलक-दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन

तुमुल तम से जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार
भीरु झींगुर - कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,

सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार
न जाने ढुलक ओस कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन ?

विछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में अमित अपार,
जुड़ाता अब मैं आकुल-प्राण;
न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन !

न जाने कौन अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अरे सुख-दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

सन्ध्या

कौन, तुम रूपसि कौन ?
व्योम, से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप—

मधुर मंथर, मृदु मौन
मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव संकुल बंकिम भ्रू-चाप,
मौन केवल तुम मौन !
ग्रीव तिर्यक् चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित नतमुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?
अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल रोल,
सीप से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन !
लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल—
बने पावस घन स्वर्णहिं-डोल,
कहो एकाकिनी कौन ?
मधुर मंथर तुम मौन ।

नौका विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त नीरव भूतल !
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल

लेटी है शान्त क्लान्त, निश्चल !
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल। क्लान्त
गोरे अंगों पर सिहर सिहर लहराता तार सरल सुन्दर—
चंचल अंचल सा नीलाम्बर !
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर
चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता सी सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें बँधी; खुला लंगर।
मृदु मंद मंद मंथर, मंथर, लघु तरनि हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर विम्बत हो रजत पुलिन निर्भर;
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त प्रमन, प्रसन्न
पलकों में वैभव स्वप्न सघन।
नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारकदल,
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल,

फिरती लहरें लुक छिप पल पल
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रूपहरे परदों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख,
दिखलाता मुग्धा सा रुक रुक।
अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर क्षितिज पर विटप माल, लगती भ्रू रेखा-सी अराल,
अपलक नभनील नयन विशाल,
माँ के उर पर शिशु सा समीप सोया धारा में एक द्वीप,
उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीक;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक,
छाया की कोकी को विलोक।
पतवार घुमा अब प्रतनु भार,
नौका घूमी विपरीत धार।
डाँड़ी के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार।
चाँदनी के साँपों सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं सी खिंच तरल सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ उडु झिल मिल,
फैले फूले जल में फेनिल।

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सोत्साह।
ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार,
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा सा जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम,
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग जीवन के कर्णधार! चिर जन्म मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।

द्रुत झरो

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिमताप पीत; मधुवात भीत
तुम वीतराग जड़ पुराचीन
निष्प्राण विगत युग! मृत विहंग!
जग नीड़ शब्द औ श्वासहीन,
च्युत अस्त-व्यस्त पंखों से तुम,
झर-झर अनन्त में हो विलीन!
कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर-पल्लव लाली!

प्राणों के मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !
मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली।

भारतमाता

भारतमाता।
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा जमुना में आँसू जल,
उदासिनी।
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग-युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने घर में
प्रवासिनी
तीस कोटि सन्तान नग्न तन
अर्थक्षुधित शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़ असभ्य अशिक्षित, निर्धन
नत मस्तक,

तरु तल निवासिनी ।
स्वर्ण शस्य पर पद तल लुंठित
धरती-सा सहिष्णु मन, कुंठित,
क्रंदित कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित,
शरदेन्दु हासिनी ।
चिन्तित भृकुटी क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमिति,
ज्ञान मूढ़,
गीता प्रकाशिनी ।
सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन-मन भय; भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी ।
भारतमाता ।
ग्रामवासिनी ।

मध्यप्रदेश के रहने वाले हैं।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा"

माखनलाल जी की वाणी हिन्दी के सभी अन्य कवियों के स्वर की अपेक्षा तीव्र, मर्मस्पर्शिनी तथा अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में पूर्ण है। वह "एक भारतीय आत्मा" है और उसमें गुलाम भारत की आत्मा की तड़प है, चीख है जो बन्धनों को टूक-टूक करने के संकल्प में बलिदान को पूजा मधुर तथा सूली को प्रियतम की सेज से अधिक कोमल समझती है।

उनके व्यक्तित्व के चार स्वरूप स्पष्ट हैं। वे शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त तथा विचारों से क्रांतिकारी हैं। परन्तु साहित्य के धरातल पर ये चारों घुलकर एकाकार हो जाते हैं। देशभक्ति उनके लिए परोपकार का प्रतिमान नहीं, आत्म-विकास का माध्यम है। उनके काव्य में शासन के प्रति आक्रोश के भाव नहीं हैं क्योंकि वे दमन-जनित मार्ग को साधना-पथ स्वीकार करते हैं। यही नहीं स्वयं मरण भी उनके लिए एक त्यौहार है। राष्ट्र-सेवा तथा आराध्योपासना उनकी दृष्टि में एक ही लक्ष्य की ओर जाने वाली आलोक की दो पगडंडियाँ हैं। वे 'श्याम' के उस स्वरूप के उपासक हैं, जो उनके प्यारे देश को हाथों-हाथ लिये हों। वैष्णव भावधारा से खिचकर उनकी पंक्तियाँ राजनीति के नीरस प्रश्न को भी सरस कर देती हैं। उनका अधिकांश जीवन राजनीति की उलझनों, जेल की दीवारों और स्वातन्त्र के प्रश्न की कठिनाइयों में बीता। परन्तु, इस पर भी वे सच्चे हृदय से कह सके—

सखे बता दे कैसे गाऊँ;
अमृत मीते के दाम न हो ।
जगे एशिया, हिले विश्व;
पर राजनीति का नाम न हो ।"

उनके हृदय में सूफियों की प्रेमाकुलता तथा कातरता सदैव ही बनी रहती है। उनका स्नेह साकार से आविर्भूत होकर निराकार में लीन होने की दिव्य आकांक्षा से पूर्ण होता है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को वे बड़ी कुशलता से सार्वदेशिक बना देते हैं। किन्तु फिर भी श्रृंगार की इस रसात्मकता में संयम की रुक्षता सदैव अटल रहती है।

उनकी अनेक कविताएँ उस काल की हैं जब छायावाद की रूप-रेखा भी नहीं बनी थी। इस नाते उनका महत्व और भी अधिक है। द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता की सैकत-राशि पर नवीन अभिव्यंजना की जो रेखाएँ खड़ीबोली की शैशव में उन्होंने बनाईं वे भाषा का श्रृंगार हैं। अन्य भाषाओं के अगणित शब्द अपने मौलिक ढ़ंग से उन्होंने प्रयुक्त किये और आज भी करते चले जा रहे हैं। उनकी रचनाओं की गति में व्याकरण खो जाता है।

अपने समय की पत्रिकाओं तथा पत्रों में वे निर्बाध रूप से लिखते रहे पर खेद है कि संकलित रूप में हिम-किरीटिनी' ही प्रकाशित हुई। अभी हाल ही में उस पर 'देव-पुरस्कार' मिला है।

कवि के अतिरिक्त वे हमारे सामने एक कुशल प्रौढ़ गद्यकार एवं विचारशील मधुर वक्ता के रूप में भी आते हैं। 'साहित्य देवता' उनका गद्य-ग्रन्थ है। कृष्णार्जुन युद्ध उनका सुविख्यात नाटक है।

इसके पश्चात् उनमें एक और विशेषता पाई जाती है और वह यह है कि उनका व्यक्तित्व उनकी साहित्यिक कृतियों की तरह ही कोमल एवं आकर्षक है। सं० २००० वि० में वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे।

इस प्रकार उनका समस्त जीवन साहित्य से ओत-प्रोत है। बहुत काल तक तो वे अधिकतर 'कर्मवीर' सम्पादक के रूप में ही जाने गये क्योंकि पत्रकार के नाते ही वे पहले-पहल 'प्रताप' के सम्पादक थे तथा गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ-साथ हिन्दी जगत् में उतरे थे।

हमें उनसे अभी बहुत कुछ आशा है।

कैदी और कोकिल

क्या गाती हो ? क्यूँ रह-रह जाती हो ? कोकिल ? बोलो तो ?
क्या लाती हो ? सन्देशा, किसका है ? कोकिल ! बोलो तो ?

ऊँची पतली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना
मरने भी देते नहीं—तड़प रह जाना

जीवन पर अब दिन रात कड़ा पहरा है,
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है ?
हिमकर निराश कर गया, रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली ?

क्यूँ हूक पड़ी ? वेदना-बोझवाली-सी—कोकिल ! बोलो तो ?
क्या लुटा ? मृदुल वैभव की रखवाली सी कोकिल ! बोलो तो ?

बन्दी सोते हैं, है घर्घर श्वासों का
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है—लोहे के दरवाजों का,
बूटों का, या सन्त्री की आवाजों का,

या गिरने वाले करते हा-हा-कार,
सारी रातों हैं—एक, दो, तीन, चार !
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा !—मधुर क्यों गाने आयी आली ?

क्या हुई बावली ? अर्द्धरात्रि को चीखी कोकिल ? बोलो तो ?
किस दावानल की ज्वालाएँ हैं दीखीं--कोकिल ! बोलो तो ?
निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने,
या वायु-विटप-वल्लरी, चीर हठ ठाने—
दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने,
या लेने आयी इन आँखों का पानी,
नभ के ये दीप बुझाने को ठानी,
खा अन्धकार करते वे जग रखवाली,
क्या उनकी आभा तुझे न भायी आली ?
तुम रवि-किरणों से खेल जगत को रोज जगाने वाली—
कोकिल ! बोलो तो ?
क्यों अर्द्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो मतवाली—
कोकिल ! बोलो तो ?
दूबों से आँसू धोती रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इन वन पर,
ब्रह्मांड कँपाती उस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों को पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा,
अब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बेजाने—
कोकिल ! बोलो तो ?

क्यों तमोपत्र पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—
कोकिल ! बोलो तो ?

क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिशराज का गहना ?
मिट्टी पर ! अंगुलियों ने लिक्खे गान !
कोल्हू का चर्रक चूँ—जीवन की तान !
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।
दिन में मत करुणा जगे, रुलाने वाली।
इसलिए रात में गजब ढा रही आली !
इस शान्त समय में अन्धकार को वेध, रो रही क्यों हो—
कोकिल ! बोलो तो ?
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
कोकिल ! बोलो तो ?

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली,
मेरी लौह-शृंखला काली,
पहरे की हुंकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ! ऐ आली !

इस काले संकट-सागर पर मरने को मदमाती—

कोकिल ! बोलो तो ?

अपने गतिवाले गीतों को किस विधि हो तैराती

कोकिल ! बोलो तो ?

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार !
तेरे गीतों उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !
देख विषमता तेरी मेरी,
वजा रही तिस पर रणभेरी !

इस हुंकृति पर, अपनी कृति से, और कहो क्या कर दूँ ?

कोकिल ! बोलो तो ?

मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किसमें भर दूँ ?

कोकिल ! बोलो तो ?

फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
इस अन्धकार में मधुराई दफनाना।
नभ सीख चुका है कमजोरों को खाना !
क्यों बना रही अपने को उसका दाना
तिस पर, करुणा-गाहक बन्दी हैं,
स्वप्नों में, स्मृतियाँ श्वासों से धोते हैं !

सींकचे रूपिणी लोहे का पाशों में
क्या भर दोगी. बोलो निद्रित लाशों में ?
क्या घुस जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासों के द्वारा—
कोकिल ! बोलो तो ?
और प्रात में हो जायेगा उलट-पुलट जग सारा—
कोकिल ! बोलो तो ?

जवानी

आज अन्तर में लिये पागल जवानी !
कौन कहता है कि तूं
विधवा हुई, खो आज पानी ?
चल रहीं घड़ियाँ
चलें नभ के सितारे,
चल रहीं नदियाँ,
चलें हिम - खंड प्यारे,
चल रहीं साँस,
फिर तू ठहर जाये ?
दो सदी पीछे कि
तेरी लहर जाये ?
पहन ले नर - मुंड - माला,
उठ, स्वमुंड, सुभेस कर ले;
भूमि सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे, साथ हैं, उठ री जवानी !

द्वार बलि का खोज
चल भूडोल कर दें,
एक हिम - गिर एक सिर
का मोल कर दें
मसल कर, अपने
इरादों सी, उठा कर
दो हथेली है कि
पृथ्वी गोल कर दें?

रक्त है? या है नसों में क्षुद्र पानी!
जाँच कर, तू सीस दे-देकर जवानी!

वह कली के गर्भ से फल,
रूप में, अरमान आया!
देख लो मीठा इरादा, किस
तरह, सिर तान आया।
डालियों ने भूमि पर लटका
दिये फल, देख आली
मस्तकों को दे रहो
संकेत कैसे, वृक्ष डाली

फल दिया? या सिर दिया? तरु की कहानी,
गूँथ कर युग में, बताती चल जवानी!

श्वान के सिर हो—
चरण तो चाटता है!

भोंक ले क्या सिंह
को वह डाँटता है ?
रोटियाँ खायीं कि,
साहस खो चुका है,
प्राणि हो पर प्राण से
वह जा चुका है।
तुम न खेलो ग्राम-सिंहों में भवानी।
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी!
ये न मग हैं, तव
चरण की रेखियाँ हैं,
बलि दिशा की अमर
परम्परा देखा-देखियाँ हैं।
विश्व पर, पद से लिखे
कृति लेख हैं ये
धरा तीर्थों की दशा
की मेख हैं ये। स्तम्भ
प्राण रेखा खींच ये, उठ बोल रानी!
री मरण के मोल की चढ़ती जवानी!
टूटता-जुड़ता समय
'भूगोल' आया,
गोद में मणियाँ समेट,
खगोल आया,

क्या ज़ले बारूद ?—
हिम के प्राण पाये !
क्या मिला ? जो प्रलय
के सपने न आये।
धरा ?—यह तरबूज
है दो फाँक कर दे,
चढ़ा दे स्वातन्त्र्य प्रभु पर अमर पानी
विश्व माने—तू जवानी है जवानी !
लाल चेहरा है नहीं—
फिर लाल किसके !
लाल खून नहीं ?
अरे कंकाल किसके ?
प्रेरणा सोयी कि
आटा-दाल किसके
सिर न चढ़ पाया।
कि छाया-भाल किसके ?
नेह की वाणी कि हो आकाश-वाणी,
धूल है जो जग नहीं पाती जवानी।
विश्व है असि का ?—
नहीं संकल्प का है।
हर प्रलय का कोण
काया-कल्प का है,

फूल गिरते; शूल
शिर ऊँचा लिये हैं,
रसों के अभिमान
को नीरस किये हैं!
खून हो जाये न, तेरा देख, पानी,
मरण का त्योहार, जीवन की जवानी।

हिम किरीटिनी

री सजनि! वन-राजि की शृंगार।
समय के वन-मालियों
की कलम के बरदान,
डालियों, काँटों भरी
के ऐ मृदुल-अहसान।
मुग्ध मस्तों के हृदय के
मुदे तत्व अगाध,
चपल अलि की परम।
संचित गूँजने की साध।
बाग की बागी हवा
की मानिनी खिलवाड़
पहन कर तेरा मुकुट
इठला रहा है झाड़।
खोल मत पंखियों का द्वार,
री सजनि! वन राजि की शृंगार।

आ गया वह वायु वाही,
मित्र का नव राग,
बुलबुलें गाने लगी हैं
जाग प्यारी! जाग!
प्रेम-प्यासे गीत गढ़,
तेरा सराहें त्याग
रागियों का प्राण है,
तेरा अतुल अनुराग।
पर न वनदेवी! न सम्पुट
खोल, तू मत जाग,
विश्व के बाजार में
मत बेंच मधुर पराग!
खुली पंखड़ियाँ कि तू वे-मोल,
हाट है यह; तू हृदय मत खोल
वृक्ष के अन्तर हृदय की
री मृदुलतर शक्ति।
फलों की जननी, सुगन्धों
की अमर अनुरक्ति
छोड़ तू बड़भागिनी
ये उभय लालच छोड़।
आज तो सिर काटने
में हो रही है होड़!

अरी व्यर्थ नहीं, कि
प्रियतम माँगता है दान,
ले अमर तारुण्य
अपने हाथ, हो कुरबान !
मिटेंगी ?—मिट जाँय अंचल चाह,
मुंदी रह, तू हो न अरी तबाह !
हँस रही है और हँस
ले खूब तू मत बोल,
भोगियों के चरण की
कुचलन बनाकर मोल।
तुच्छ से अनुराग पर,
वे खो रही हैं त्याग,
राग पर उनके; हुआ
अपमान भोगी बाग।
चाह तेरी भी बनेगी,
नाश का गोदाम ?
क्या तुझे भी चाहिए
तारुण्य का नीलाम ?
सँभल, अलिगण लूट न पाँय पराग,
भैरवी सोरठ, समझ मत जाग !
क्या कहा, "कैसे सहूँ
क्या कोकिला की हूक ?

और मैना की मधुरता
कर रही दो टूक ?
मृदुल चिड़ियों की चहक
पर महक है बेचैन ?
यह सवेरे की हवा
आ गयी बनकर मैन ?"
ठीक है, तब भी छिड़े
तेरा प्रलय से जंग
री प्रसादिनी हो न तेरा
वह तरुण तप भंग
भावुकों के ऐ अमित अभिमान
जाग मत, अघ पर न कर अवसान,
मित्र के कर फेंकते ।
तुझ पर सुनहली धूल ।
डालि पर तेरी रही ।
निर्दय मुनैया झूल ।
कर रहे तुझको हवा
पत्ते, अपनपो भूल,
कामिनी का दे रहा
झाड़े प्रमत्त दुकूल ।
पर न इनकी मान तू,
है शाप, ये वरदान,

हिम - किरीटिनी ने मँगाये
हैं सखी तव प्राण ।
बिना बोले, मातृ - चरणों डोल,
और उस दिन तक हृदय मत खोल !
जब सिपाही उठें,
सेनानी उठें ललकार,
मातृ - बन्धन मुक्ति का
जिस दिन बने त्योहार,
जब कि जन-पथ लाल हों,
हो किसी की तलवार,
आयगा सिर काटने
उस दिवस मालाकार
करेगा हुँकार, कलियाँ
बन्द हों तैयार !
सूजियों से छेदने में
आज उनकी बार !
यह मधुर बलि, हो विजय का मोल,
मानिनी, तब तक हृदय मत खोल ।
हिम - किरीटिनी की परम उपहार !
री सजनि ! बन-राजि की शृंगार ।

श्री महादेवी वर्मा

महादेवी जी नश्वर मानव के हृदय की अविनश्वर वेदना की साकार मूर्ति हैं। गीति-काव्य में ही उनकी अभिव्यक्ति निहित है और करुणा ही उनके भाव-पथ का सम्बल है।

मातृपक्ष की भावुकता एवं आस्तिकता तथा पितृपक्ष की सम्प्रदायहीन दार्शनिकता इन सबों ने मिलकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है। शैशव में सुने हुए मीरा तथा तुलसी के भावमय पदों की संगीतात्मकता से प्रेरित होकर ब्रजभाषा में रचना का प्रारम्भ हुआ और फिर पत्र-पत्रिकाओं के सहारे खड़ी बोली में सृजन होने लगा।

नीहार—रश्मि—नीरज फिर सबका एकीकरण यामा और फिर स्नेह की जलन—दीपशिखा, यही महादेवी जी की रचनाओं का तारतम्य है।

"शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता" तथा "तेरी उतारूँ आरती माँ भारती" आदि कविताओं में राष्ट्रीय जागृति की किरणों का आलोक है। इसके उपरान्त समस्त रचनाओं में विषाद की एक गहरी छाया अपना अंधकार-सा काला अंचल फैलाये है। उन्होंने हृदय के प्रत्येक स्पन्दन, शरीर के प्रत्येक कंपन और अभाव के प्रत्येक अंकन को वाणी देने का प्रयत्न किया। आन्तरिक जगत् की वेदना की गम्भीरता ने अनुभूति को

सार्वभौमिकता प्रदान की है। उनके लिए उषा, संध्या, दिवस और रात्रि सभी आँसुओं से भीगे हैं। प्रकृति की प्रत्येक गति में कसक है। पीड़ा का इतना कोमल विस्तार हिन्दी के किसी भी अन्य कवि में नहीं मिलता।

ये छायावाद-युग की प्रमुख लेखिका हैं। शब्दों में उस युग की प्रधान शैली का अनुसरण, भावों की तीव्रता की अभिव्यंजना तथा उनकी सूक्ष्मता का अंकन अनेकानेक प्रकार की योजनाओं से किया गया है। माधुर्य एवं कोमलता उनकी पंक्तियों की विशेषता है। 'अभिशाप और वरदान', 'वीणा और झंकार' तथा 'क्षितिज' आदि अनेक प्रतीकों का निर्माण हुआ है।

रहस्यवाद से उन्हें स्वाभाविक प्रेम है। आत्मा की चिरन्तन विकलता तथा ब्रह्म के संयोग के लिए अपार तड़पन संत-काव्य में सभी जगह पाई जाती है। वही भावना महादेवी जी के अनेक गीतों में पाई जाती है।

"दूर प्रिय से हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ,

तथा

"फिर विकल हैं प्राण मेरे"
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है।
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है।
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे प्राण घेरे।

इत्यादि पंक्तियों में आत्मा की अज्ञात प्रिय के प्रति आकुलता महादेवी जी की रहस्यात्मक अनुभूतियों का प्रमाण है।

इन सबके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि महादेवी जी चित्रकार भी हैं। यामा में उनके अनेक चित्र हैं तथा दीपशिखा में तो कविताएँ

चित्रों पर ही लिखी हैं। वे कविता में जितनी सफल हैं, चित्रों में भी उतनी ही कुशल हैं ।

अपनी भावनाओं को रेखाओं में बांध लेने की शक्ति उनमें प्रचुर मात्रा में है। जो कुछ वे शब्दों में न कह सकीं उसे रेखाओं के कोमल डोरों में गूंथ दिया। 'अतीत के चलचित्र' तथा 'शृंखला की कड़ियाँ' उनकी गद्य-रचनाएँ हैं तथा 'महादेवी जी का विवेचनात्मक गद्य' उनके स्फुट गद्य का संग्रह । इस धारा में उनकी चिन्तन-शीलता तथा विचार-गंभीरता का विशेष महत्व है।

हिन्दी के साहित्यकार के जीवन की अनिश्चितता तथा अर्थहीनता से प्रभावित होकर आजकल वे साहित्यकार-संसद के निर्माण कार्य में रत हैं। हिन्दी को अभी उनसे बहुत आशा है।

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे
अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे,
दुख व्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति तिमिर में स्वर्ण बेला।
दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिनके मिटे स्वर धूलि में खोई निशानी;
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित
मोतियों की हाट और चिनगारियों का एक मेला।
हास का मधु दूत भेजो;
रोष की भ्रूभंगिमा पतझार को चाहे सहेजो,
ले चलेगा उर अचंचल,
वेदना जल स्वप्न-शतदल
जान लो वह मिलन—एकाकी विरह में है दुकेला।

× × ×

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो!
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण बंशी-वीणा स्वर,
गये आरती वेला का शत-शत लय से भर,
जब था कल कंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला!

अब मंदिर में इष्ट अकेला
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो!
चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिये चंदन के दहली,
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित,
सब की अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो!
पल के मन के फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया;
साँसों की समाधि सा जीवन
मसि सागर-सा पंथ गया बन,
रुका मुखर कण-कण का स्पंदन,
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो!
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जायेगा प्रतिपल
रेखाओं में भर आभा-जल
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो
मिल जाता काले अंजन में संध्या की आँखों का राग,
जब तारे फैला-फैला कर सूने में गिनता अकाश,

उसकी खोई सी चाहों में
घुट कर मूक हुई आहों में ?

झूम-झूमकर मतवाली-सी पिये वेदनाओं का प्याला,
प्राणों में रुँधी निश्वासें आती ले मेघों की माला;
उसके रह - रह कर रोने में
मिलकर विद्युत् के खोने में !

धीरे से सूने आँगन में फैला जब जाती हैं रातें,
भर - भर कर ठंडी साँसों में मोती से आँसू की पाँतें;
उनकी सिहराई कम्पन में
किरणों के प्यासे चुम्बन में !

जाने किस बीते जीवन का संदेशा दे मंद समीरण
छू देता अपने पंखों से मुरझाये फूलों के लोचन;
उनके फीके मुस्काने में
फिर अलसा कर गिर जाने में !

आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में,
कन - कन में बिखरा है निर्मम !
मेरे मानस का सूनापन

× × ×

वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं !
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण - कण में,

प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पंदन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में,
शाप हूं जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूं कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!
नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिन भी हूँ!
आग हूं जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसके बिछे हैं पाँवड़े पल के;
पुलक हूं वह जो पला है कठिन प्रस्तर में;
हूँ वही प्रतिविम्ब जो आधार के उर में;
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूं।
नाश भी हूं मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,
तार का आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूं।

श्री रामकुमार वर्मा

रामकुमार जी हिन्दी के उन कवियों में हैं जिन्होंने अध्ययनशीलता को अनुभूति की तीव्रता के साथ ही अपने जीवन में उतार लिया है। इनकी भावना में स्वाभाविक रूप से रहस्यात्मकता रहती है। कबीर की रहस्यमयी-बानी का गहन-मनन तथा पाश्चात्य रहस्यवाद की अभिज्ञता सबने मिलकर इनके रहस्यवाद को प्रौढ़ता प्रदान की है। इनकी इस प्रकार की भावनाओं में एक सुगमतापूर्ण सौन्दर्य रहता है, क्लिष्ट कल्पना अथवा दुरूहता का आधार नहीं लिया जाता। छायावादी युग में रहस्यवाद का जो अंश आ मिला है उसका बहुत कुछ श्रेय आपको ही है। ब्रह्म तथा आत्मा के माधुर्य भाव के संबंध की सूक्ष्म परिस्थितियों की ओर कवि इंगित करता है। रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है कि तादात्मक होने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता का ज्ञान रहता है और वह परमात्मा में लीन होकर भी इस ज्ञान को नहीं खोती। यही कारण है कि आनन्द की सत्ता अन्त तक बनी रहती है और उसका चरम उत्कर्ष चिर उत्कर्ष भी हो जाता है। वर्मा जी की अनुभूतियों में इस ज्ञान की श्रेयता है और यही उनके रहस्यवाद की सफलता भी।

'मैं तुमसे मिल सकूँ, यथा उर से सुकुमार दुकूल'

के द्वारा यह तथ्य इतना स्पष्ट हो जाता है कि फिर संशय ही नहीं रहता।

दुकुल तथा शरीर का कितना भी सामीप्य क्यों न हो पर उसका तादात्म्य नहीं होता।

'चित्ररेखा' तथा 'चन्द्र-किरण' में इस प्रकार की भावना से ओत-प्रोत कविताएँ संकलित हैं।

इनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति एक लालसामयी आस्था है। उसके दर्शन के लिए आँखों में अमर प्यास है और उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के लिए हृदय में चिर स्थान। प्रकृति के ही दैवी चित्र को यह रहस्यवाद के क्षेत्र में भावना के व्यक्तीकरण का प्रधान कारण मानते हैं। 'रूपराशि' 'चन्द्र किरण' तथा 'हिम-हास' में प्रकृति का सजीव चित्रण है।

वर्मा जी की दूसरी साहित्यिक विशेषता है उनकी नाट्य-रचना। पर वे केवल एकांकी नाटक ही लिखते हैं। वर्तमान युग के यन्त्रचालित जीवन में जब कलाकार उपन्यास की गुरुता से कहानी की लघुता पर उतर आया है तो स्वाभाविक ही था कि पूर्ण नाटक के स्थान पर एकांकी का प्राधान्य हो। इनके नाटकों में अभिनेयता, सरलता तथा सुस्पष्टता प्रधान है। दैनिक जीवन के भावात्मक उत्थान-पतन उनके नाटकों के विषय रहते हैं। परन्तु इस ओर वे ऐतिहासिक नाटकों की ओर अधिक झुक गये हैं। 'रेशमी टाई' के बाद 'चारुमित्रा' इसका प्रमाण है। इधर शिवाजी, समुद्रगुप्त पराक्रमांक, औरंगजेब की अंतिम रात आदि कई नाटक लिखे हैं जो पूर्णतया इतिहास पर आधारित हैं। वर्माजी की कविता को उनके नाटककार ने आजकल तिरोहित-सा कर लिया है और उसके साथ जब आलोचना की नीरसता आ जाती है तो और भी कठिनाई हो जाती है। आलोचक वे हैं ही। 'हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास', 'कबीर

का रहस्यवाद' तथा 'साहित्य समालोचना' आदि अनेक रचनाएँ आलोचना के क्षेत्र में भी आ गई हैं।

कभी-कभी इनके तीनों स्वरूप एक हो जाते हैं। जैसे 'शुजा' आदि कविताओं में।

वर्माजी छायावाद काल के प्रतिष्ठित कवि हैं। उन्हें 'चित्ररेखा' पर देव पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। वे प्रगतिवादी न होकर भी प्रगतिवाद के इस युग में हिन्दी को कुछ और देंगे, चाहे वह कविता हो, चाहे नाटक, ऐसी पूर्ण आशा है।

ये गजरे तारों वाले

इस सोये संसार बीच
जग कर, सज कर रजनी वाले ?
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले ?

मोल करेगा कौन !
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी;
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी।

निर्झर के निर्मल जल में
ये गजरे झुला-झुला धोना;
लहर-लहरकर यदि चूमें तो,
किंचित विचलित मत होना।

होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना;
'लो मेरे तारों के गजरे'
निर्झर स्वर में यह गाना।

यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुमसे हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में,
बिखरा देना सब गजरे।

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में
कैसे देखूँ जीत ?

उषा अभी सुकुमार, क्षणों में——
होगी वही स-तेज;
लता बनेगी ओस-विन्दु की
सरल मृत्यु की सेज !

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप ?

क्या है अन्तिम लक्ष्य——
निराशा के पथ का ?—अज्ञात !
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?

और काँच के टुकड़े बिखरा
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को, दुख
देता है नभ नीच ?

यह निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता, छिपकर भीषण व्याल

देख रहा हूँ बहुत दूर पर
शान्ति-रश्मि की रेख
उस प्रकाश से मैं अशान्त तम
ही सकता हूँ देख;
काँप रही स्वर अनिल-लहर
रह रहकर अधिक सरोष;
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष!
कैसा है अन्याय? न्याय का स्वप्न देखना पाप;
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप!
हास्य कहाँ है? उसमें भी है
रोदन का परिणाम;
प्रेम कहाँ है? घृणा उसी में
करती है विश्राम;
दया कहाँ? दूषित उसको
करता रहता रोष;
पुण्य कहाँ है? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष;
धूल हाय! बनने ही को खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप!
मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,

उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक-हाथ;
मेरे निकट शिलाएँ पाकर
मेरा श्वास प्रवाह
बड़ी देर तक गुंजित करतीं
रहती मेरी आह;
'मर! मर!' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन,
भूल रहा हूँ स्वयम्, इस समय मैं हूँ जग में कौन?

वह सरिता है, चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशि दिन आठों याम;
नहीं सुना मेरे भावों ने,
'शान्ति शान्ति' का नाम।
लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन;
लीन करेगा कौन? अरे यह मेरा हृदय मलीन!

कंकाल

क्या शरीर है? शुष्क धूल का
थोड़ा सा छवि-जाल,

इस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कंकाल!
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है उस पर,
सीखा है बलिदान!
मदमाती आँखों वाले, ओ? ठहर अरे नादान!
एक फूल की माला है, उस पर इतना अभिमान!
इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना रंग;
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग.
और उमंगों में भूला है,
बन कर एक उमंग,
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'—
वह 'अनंग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद,
जर्जरपन में ले जाता है नव यौवन की याद।
और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास;
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास;

कलित कपोलों की कोरों में—
भर उषा का रंग
चंचल तीर चला चितवन का
करती थी भ्रू - भंग,
मैंने देखा था उसमें, गिरते - फूलों का हास,
सन्ध्या के काले अम्बर में मिटता अरुण विकास।
दूर ! दूर ! ! मत भरो कान में
वह मतवाला राग;
यही चाहते हो, मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना श्रृंगार ?
करने को कहते हो मुझ से
निश्चल शव से प्यार ?
गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मन के स्राव ?
पथराई आँखों से कैसे देखूँ विष का पाव ?
अरे, पुण्य की भाषा में तुम
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन रंग से किस आशा पर
करते अमर बिहार ?

ओस - कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृंगार ?
प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार।
मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार;
विरही क्षण क्यों भाग रहे हैं,
वर्तमान के पार
मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश-विनाश;
झाँक शुष्कता रही चोर-सी;
हृदय-सुमन के पास,
जीवन-आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन,
अन्धकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन।
झूल रहा हूँ पाकर स्मृति की
चंचल एक हिलोर,
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर;
हाँ, वह यौवन - लाली करती
जीवन - सुमन - विहार;
मादकता में धूल - कणों से—
भी करती थी प्यार

शुष्क पत्तियों से करती थी आलिंगन का हाव;
मतवाले बनकर आते थे, मन के नीरस भाव।
काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार;
मैंने छिप कर देखा था,
देखा था कितनी बार !
उनका अपना और समुत्सुक--
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,
किन्तु मुझे क्या मिलता था? क्या बतला दूँ उपहार?
शीतल ओठों का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।
उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार।
घृणा घृणा शत जिह्वा से
डसती थी बारम्बार;
आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु - पाश का शक्ति - हीन हो
गिरना धनुषाकार,
यह था क्या उपहार, अरे, इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार !

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
अरे ! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार !
पहिन रहे हो हार,
उसी में झूल रही है हार;
पुण्य मान कर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार ?

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार,
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार।

(अभिशाप से)

यह तुम्हारा हास आया
यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे-से बादलों में
कौन सा मधुमास आया ?
आँख से विचलित व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के व्यूह—
ये कैसे रहे हैं ?
एक उज्ज्वल तीर सा रवि—
रश्मि का उल्लास आया। यह...

आह ! वह कोकिल न जाने—
क्यों हृदय को चीर रोयी ?
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में,
क्षीण हो-हो हाय ! सोयी !
किन्तु इससे आज मैं—
कितने तुम्हारे पास आया
यह तुम्हारा हास आया।

(चित्ररेखा से)

चट्टान

दृढ़ खड़ी, कड़ी टेढ़ी अखण्ड,
चट्टान अटल जड़-सी विषण्ण।
भू-मण्डल में निर्भीक वायु-मण्डल का शून्यान्तर बिगाड़
झाड़ों के झुण्ड चपेट भूमि पर बैठी है बनकर पहाड़,
चुपचाप, हजारों लाखों का पिण्ड बनी भू-खण्ड फाड़
भू-कंपों की दुर्द्धर्ष शक्तियाँ उसको क्या पाईं उखाड़ ?
ना परिवर्त्तन को रोक—
अमर जीवन का लेकर स-बल मंत्र...
चट्टान खड़ी है—आदि सृष्टि-
निर्माण देख, भीषण, स्वतंत्र।
वर्षाओं का आघात-बीच में खड़ी हुई निर्भीक भ्रान्त,
जैसे चामुण्डा—और प्रहारों को करते-से चर-ध्वान्त,

सब थके—एक चट्टान विश्व को सुदृढ़ शक्ति संपूर्ण शान्त
केन्द्रित दिक्कोण चतुर्भुज-सी, शासन करती-सी अखिल प्रान्त !
यह महाशक्ति सौन्दर्य, विजय सौन्दर्य-
अटलता का विधान।
मैं था मुरझाया - फूल आज,
बन गया शक्ति का बीज-ज्ञान ।।
तेरी अटूट कोरों में मेरे उलझ गये हैं नयन-कोर,
तेरी उदारता पर, चढ़कर नभ तक फैले थे नयन-छोर,
तेरी दृढ़ता में आज सुदृढ़ बन गई भावना की हिलोर,
तेरी अखंडता देख, देखता हूँ उर में दृढ़ता-विभोर,
अब कहाँ पराजय, कहाँ हीनता,
कहाँ क्लैव्य है, कहाँ हार !
ओ शिलाखंड ! मैं कठिन भाग्य की-
तरह बन गया दुर्निवार ।।
हाँ, एक बात ! क्या तुम में कोई सिसक रही अभिशाप-शप्त ?
वह कौन ? अहल्या ! ओ नारी ! तू कहाँ रही यों सिक्त तप्त ?
क्या वीतराग की एक किरण, खा गई प्रेम की किरण सप्त ?
क्या इस कठोरता के विराग में आन्दोलित उर है विलुप्त ?
किसका विराग ? किसका क्रन्दन ?
ओ ठहर, विश्व के व्यथित पाप !
तू आज शिला बन कर नारी के—
आँसू भी पी गया आप ?

प्रातः वेला का भ्रम, मुनि का नियमित क्रम, नारी तन अनुपम,
ये तीनों जैसे एक दूसरे के विद्रोही क्रूर विषम ॥
यह विधि का गुरु षड्यन्त्र और निर्जन, निद्रित एकाकी तम,
फिर एक अधम का अन्ध मदन सरला नारी का यौवन भ्रम ।
किसका है यह अपराध ! अरे गौतम ।
चुप, अपना हृदय थाम !
यह नारी है वंचिता, दया की पात्रा,
निश्चय ही अकाम ।
पर टेढ़ा सा पाषाण-रूप में आह ! निकल ही गया शाप,
वह शिला—आज अपराधों की केवल बनकर रह गई माप,
केवल कठोरता ! मौन रुदन ! पत्थर के भीतर चिर विलाप,
फिर विधि-विधान यह रहा कि रवि का वह झेले प्रतिदिन ताप ।
वर्षा भी निज आघातों से दे,
इसी शिला को तोड़—फोड़ ।
हिम कुंठित कर दे उस नारी के
कंकालों के जोड़ जोड़ ॥
कोमलता की प्रतिहिंसा ! यह है मेरे सम्मुख शिला खंड !
निर्बलता अपनी निष्ठुरता में बनी आज अतिशय प्रचंड !!
उस पर अब वर्षा के प्रचंड अभिशाप हिमोपल खंड-खंड—
बनकर गल जाते हैं, अपने ही दंडों से पा रहे दंड ।
ऐसी यह है चट्टान आज ।
अपने कण-कण में रही जाग,

इसमें न एक भी अंश रुदन है,
इसमें न परिव्याप्त आग ।।
क्या इसमें है परिव्याप्त आग ! ! मुझमें भी जागी यही आग !
मैं दृढ़ हूँ—सागर उठे, देखना, निकल न आये कहीं झाग ?
मैं हूँ अखंड, कायरता का मुझमें न कहीं भी लगा दाग ।
आकर चाहे मुझको देखें, भू - मण्डल का प्रत्येक भाग ! !

मैं अपने प्रण की प्रकट शक्ति से—
चिर वर्षों तक हूँ प्रचण्ड !
दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी, अखण्ड;
चट्टान अटल जड़ सी विषण्ण ! !

साधना संगीत

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !
आरती घूमें कि खिंचता जाय रंजित क्षितिज-घेरा,
धूम सा जलकर भटकता उड़ चले सारा अँधेरा,
हो शिखा स्थिर, प्राण के प्रण की अचल निष्कंप रेखा,
हृदय में ज्वाला हँसी में दीप्ति की हो चित्र-लेखा,
श्वास ही मेरे विनय की भारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय ! !

यह हँसी मन्दिर बनें, मुस्कान-क्षण हो द्वार मेरे,
मैं मिलूँ या तुम मिलो, ये मिलन-पूजा-हार मेरे !

आज बन्धन ही बनेंगे, मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यों न मुझमें अवतरित होकर रहो अवतार मेरे !'
प्राण-वंशी वार-वार पुकारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

विश्ववंद्य बापू

क्रियाशील दृढ़ हाथ और
मुख पर मृदुतम मुस्कान।
कठिन साधना से निकली हो,
जैसे सिद्धि महान !
एक तेज—जिसमें कितने
सूर्यों का अभ्युत्थान !
एक मंत्र—जिसमें अभिशापों—
से निकले वरदान !
स्वर जो—विश्व-ताप की सब अनुभूति लिये है साथ।
है स्वतंत्रता के प्रदीप-सा पराधीन के साथ।
ये सब जैसे हैं विभूतियाँ,
जो लेकर अनुराग।
वापू ! सज्जित करने आई,
आज तुम्हारा त्याग ॥
वही त्याग जो वैभव के
स्वप्नावसान का ज्ञान—

बनकर जाग्रत है जीवन के—
क्षण-क्षण में सुख मान।
विश्व-संपदा छोटी है, इतना महान है त्याग।
पद-वंदन के लिए तुच्छ लगता है स्वर्ण पराग॥
कर्मयोग के साधक तुम हो,
निर्बल के बल राम।
कितने कंठों में गूँजा है,
आज तुम्हारा नाम?
विश्ववंद्य! तुमने खोजे हैं,
निष्प्राणों में प्राण।
किया तुम्हीं ने जीवन में,
जीवन का नव निर्माण।
छिद्रों में संगीत भरा कर दिया उन्हें स्वर-द्वार।
तुमने लघु संकेत किया गूँजा सारा संसार॥
बापू! तुमको पाकर युग का
धन्य हुआ इतिहास।
आज तुम्हारा वर्तमान ही
है भविष्य की साँस।
जिस पथ पर गतिशील—
तुम्हारी छाया का आकार॥
पथ पर ही स्वतंत्रता,
का मंगल-मय द्वार।

सुन पड़ता है वीर-गीत सुन पड़ता है जय-नाद,
विजय सामने ही है बापू ! दो तुम आशीर्वाद ॥

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन जी राष्ट्रीय धारा के अत्यन्त प्रभावशाली कवि थे । उनका साहित्यिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार का जीवन राष्ट्र के प्रति सेवा-भावना से पूर्ण था और उनका व्यक्तित्व दोनों में समान रूप से क्रियाशील रहा है । जेल में रहकर वे रचनायें लिखते थे जैसे कभी 'एक भारतीय-आत्मा' आदि ।

विचारों तथा मान्यताओं में वे जितने दृढ़ थे भावना-पक्ष में उतने ही कोमल । उनका स्वर प्रेम में घुला-मिला है । संयोग-वियोग के चित्रमय क्षण, प्यार की एक अमिट प्यास तथा प्रिय के प्रति अनुराग की तीव्र अनुभूति उनकी कविताओं में अंकित हो ही जाती है, परन्तु स्नेह में वे जितने मृदुल हैं, विद्रोह तथा देश-प्रेम के उद्‌गारों में वे उतने ही प्रबल भी हैं। 'कवि कुछ ऐसी तान सुना दो' वाली कविता उनकी वास्तविक अनभूति है कृत्रिम नहीं और इसी कारण आज तक उसकी श्रेष्ठता अक्षुण्ण है । परन्तु इस प्रकार की राष्ट्रीय रचनाएँ कम हैं। उनकी भाषा पर सजाव-रचाव की छाया भी नहीं पड़ी है। कथन की तीव्रता तथा भाषा की स्वच्छन्दता में भी वे माखनलाल जी से ही हैं। 'कुंकुम' उनका एकमात्र काव्य-संग्रह है । इसके पश्चात् उनकी स्फुट रचनाएँ 'प्रताप' में बराबर प्रकाशित होती रहीं और अन्त तक होती हैं।

कहीं-कहीं वे अध्यात्मवादी से प्रतीत होते हैं। परन्तु इस ओर भी वे अधिक गहराई में नहीं उतरे। भाव-विन्यास में वे किसी प्रकार भी छाया-वादी कवियों से पीछे नहीं हैं।

नवीनजी की सफलता है उनके देश-प्रेम की काव्यात्मक अनूभुति के साथ-साथ हृदय के अन्तर्गत की झाँकियों को मिला देने में, इसी कारण प्रभविष्णुत्व उनमें बहुत है।

पराजय गीत

(१)

आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ,
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई कतार फौज की सहसा अस्त-व्यस्त हुई,
त्रस्त हुई भावों की गरिमा, महिमा सब संन्यस्त हुई,
मुझे न छेड़ो इतिहासों के पन्नों, मैं गतिधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(२)

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा विजित, भूल जाऊँ कैसे ?
वह संघर्षण की घटिका है बसी हुई हिय में ऐसे,
जैसे माँ की गोदी में शिशु का दुलार बस जाता है,
जैसे अंगुलीय में मरकत का नव नग कस जाता है।
'विजय विजय' रटते मम मनुआ यह देखो कल कीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(३)

गगन भेद कर वरद करों ने विजय प्रसाद किया था जो,
जिसके बल पर किसी समय में मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति-दीपशिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृष्ण आवरण में उसको लिपटाया है।
गौरव गलित हुआ, गुरुता का निष्प्रभ जीर्ण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ॥

(४)

एक सहस्र वर्ष की माला मैं हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत युग गुम्फित मनको मैं फिर-फिर हेर रहा,
घूम गया जो चक्र उसी की ओर देखता जाता हूँ,
इधर - उधर सब तरफ पराजय की ही मुद्रा पाता हूँ,
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(५)

विजय सूर्य ढल चुका अँधेरा लाया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देख न ले यह विजयी कुटिल समाज,
अंचल? वह कहाँ फटा अंचल वह माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ?
अर्धनग्न, रुग्ण, कपूत की माँ का लज्जा अस्त्र कहाँ?
कहाँ छिपाऊँ यह मुख अपना? खोकर विजय फकीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(६)

जहाँ विजय के पिपासार्त हो—गये आँख की ओट कई,
जहाँ जूझ कर मरे अनेकों और खा गये चोट कई,
वहीं आज सन्ध्या को बैठा हूँ अपनी निधि छोड़े,
कई सियार श्वान, गीदड़ ये, लपक रहे दौड़े-दौड़े,
विजित साँझ के झुटपुटे समय कर्कश रव गम्भीर हुआ।
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(७)

रग-रग में ठंडा पानी है अरे उष्णता चली गई,
नस-नस में टीसें उठती हैं विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं रण के प्रांगण की धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों को वर्दी के चिथड़ों में ले आया हूँ,
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर, हा! कैसा मैं वीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

(८)

वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर कारिख क्या वेश बना?
आँखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना,
अरे पराजित ओ रणचंडी के कपूत हट जा हट जा,
अभी समय है कह दे माँ, मेदिनी जरा फट जा फट जा,
हन्त पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

श्री सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्रा जी हिन्दी की कवियित्रियों में अपना मुख्य स्थान रखती हैं। क्षत्रिय होने के नाते स्वभावतः भावों में वीरता की उमंग तथा देश के प्रति प्रेम में स-प्राणता प्रधान है। 'कर्मवीर' आपकी कविताओं का प्रथम प्रकाशन द्वार रहा था, उसके उपरान्त आपकी प्रतिभा की किरणें सारे हिन्दी जगत् पर फैल गयीं।

उनकी रचनाएँ पारिवारिक जीवन की लिपिवद्ध अनुभूतियाँ हैं। प्रारम्भ में उन्होंने बहन बनकर देश की तरुणाई के कर में 'राखी बाँधी' और अब वात्सल्य की भावना से भरी कविताओं की रचना करती थीं जिनमें नारी-मनोविज्ञान की स्वाभाविक गतिशीलता स्पष्ट है।

सुभद्रा जी को आदर दिलाने में उनकी राष्ट्रीय रचनाओं का अधिक हाथ है। 'झाँसी की रानी' का उनके नाम के साथ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि एक के साथ दूसरे की सुधि अनिवार्य रूप से आ जाती है। इस कविता में भावना की सम्पूर्णता है तथा भाषा की सबलता के साथ-साथ एक प्रभाव-पूर्णता भी है। सामान्यता उनकी सभी रचनाओं में काव्यगत शास्त्रीय ढंग की आलंकारिक मनोरमता नहीं है वरन् है उसके स्थान पर सरल भावोन्मेष की सुन्दरता और प्रवाह अपनी गति में अपूर्व है। बड़ी से बड़ी कविता में भी शिथिलता तथा असंबद्धता नहीं आने पाती।

वे कहानी लेखिका भी थीं। बिखरे मोती' उनका एक प्रसिद्ध कहानी संग्रह है।

इस कहानी संग्रह तथा कविता संग्रह 'मुकुल' दोनों पर ही इन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सेकसरिया पारितोषिक' मिला था।

खेद है कि मुकुल के बाद उनकी अन्य काव्य-रचनाएँ प्रकाश में नहीं आ पायीं।

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन सत्तावन में,
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कानपूर के नाना की, मुँहबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के संग पढ़ती थी वह, नाना के संग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,

वीर शिवा जी की गाथायें
उसको याद जबानी थीं,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयम् वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार,
नकली युद्ध व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्रकुल देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी
बुन्देले हरवोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
व्याह हुआ रानी बन आयी लक्ष्मीवाई झाँसी में,
राज-महल में बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छायी,
किन्तु काल गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लायी,

तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भायीं !
रानी विधवा हुई हाय, विधि को भी नहीं दया आई ।
नि:सन्तान मरे राजा जी
रानी शोकसमानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी ।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फौरन फौज भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा,
झाँसी हुई विरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ।

अनुनय विनय नहीं सुनती है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं, नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया;

रानी दासी बनी, बनी यह
दासी अब महारानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी देहली की, लखनऊ छीना बातों-बात
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात.
उदैपूर, तंजोर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात ?
जबकि सिन्ध, पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात
बंगाले मद्रास आदि की,
भी तो वही कहानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोयी रनवासों में, बेगम गम से थीं बेजार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाजार,
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के ज़ेवर ले लो', 'लखनऊ के लो नौलख हार'
यों परदे की इज्जत परदेशी
के हाथ बिकानी थी

बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों से थी विषम वेदना, महलों के आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्धू पन्व पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रण-चंडी का प्रकट कर दिया था आह्वान!
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोयी ज्योति जगानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ में लपटें छायी थीं
मेरठ, कानपुर, पटना ने भारी धूम मचायी थी,
जबलपूर कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—

खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

इस स्वतन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना, धुन्धू पन्त, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिमान,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरवानी थी,
वुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

इनकी गाथा छोड़, चले हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द वनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा आगे वढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
जख्मी होकर वौकर भागा,
उसे अजब हैरानी थी,
वुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानो थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी बढ़ी कालपी आई, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अंग्रेजों ने फिर खायी रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार:
अंग्रेजों के मित्र सिन्धिया
ने छोड़ी रजधानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।
विजय मिली, पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुँह की खायी थी,
रानी और सुन्दरी सखियाँ रानी के सँग आयी थीं,
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचायी थी,
पर पीछे ह्यूरोज आ गया,
हाय! घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।
तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,

घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार - पर - वार,
घायल हो गिरी सिंहनी
उसे वीरगति पानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी गयी सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की सच्ची वह अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता-नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गई
हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी ? याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,

तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी--
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?
फूली सरसों ने दिया रंग
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग,
वसु-वसुधा पुलकित अंग-अंग,
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?
भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान
है रंग और रण का विधान,

मिलने आये हैं आदि अन्त;
वीरों का कैसा हो बसन्त?

गलबाहें हों या हो कृपाण
चल चितवन हो, या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके! तुझमें क्यों लगी आग?
ऐ कुरुक्षेत्र! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त
वीरों का कैसा हो बसन्त?

हल्दीघाटी के शिला-खंड;
ऐ दुर्ग सिंह-गढ़ के प्रचंड!
राणा, ताना का कर घमंड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
विजली भर दें वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी, स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमें बतावे कौन? हन्त।
वीरों का कैसा हो बसन्त?

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

'दिनकर' की कविता में देशव्यापी जागरण का स्वर है। उसमें भारत के विगत स्वर्णयुग की सुनहली किन्तु ममतामयी करुण स्मृति है और है वर्तमान समय में लौह-शृंखलाओं से जकड़ी हुई आर्य्य संस्कृति की पतित अवस्था के प्रति अपार असन्तोष ! 'दिनकर' में परवशता की कालरात्रि के सघन अन्धकार को बेधकर देश में स्वतन्त्रता का आलोक भर देने की शक्ति रखनेवाली किरणें अपने चमकीले पंख खोल रही हैं। 'दिनकर' एक परिवर्तन चाहते हैं जिसके द्वारा भूखे-नंगे भारत के लिए एक बार फिर उसका अतीत भविष्य बन सके। उनके विचारों में गति है और भावों में दृढ़ता। उनमें जैसे 'एक भारतीय आत्मा' की तरुणाई फिर खेलने लगी है।

"मेरे नगपति, मेरे विशाल" कहकर हिमालय के प्रति जो अपनापन उन्होंने दिखाया है वह छिपा नहीं है। इस कविता में भारत की संस्कृति का इतिहास सूत्रबद्ध है। नालन्दा, वैशाली, पाटलिपुत्र तथा हस्तिनापुर आदि के प्रति उनके हृदय में स्वाभाविक मोह है जो इन स्थानों की ईंट-ईंट में छिपी हुई शत-शत स्मृतियों के भार से कराह कर रो उठता है। 'कविता की पुकार', 'मिथिला', 'बोधिसत्व', 'वैभव की समाधि पर' प्रभृति कविताएँ इस प्रकार की भावना से ओतप्रोत हैं। वे कह उठते हैं:—

क्रांति-धात्रि कविते ! जग उठ
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखंड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा।

'दिनकर' की हुंकार में पौरुष है। उसके प्रत्येक शब्द में स्वदेश की मुक्ति का क्रन्दन है। 'रेणुका' उनका सर्वप्रथम संग्रह है जो इस भावना का प्रतीक है और 'रसवन्ती' नवीनतम कृति है जो अपने नाम में ही सार्थकता छिपाये है। देश के भूखे-नंगे बच्चों के लिए दूध खोजने के लिए उनकी अनुभूति उन्हें स्वर्ग तक को ललकारने पर बाध्य कर देती है :—

"हटो पंथ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
वत्स ! वत्स ! ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"

'दिनकर' के स्वभाव में प्रकृति के प्रति एक अबोध आकर्षण है जिसके कारण उन्हें निर्झर, पर्वत, उपत्यका तथा हरियाली सभी में आत्मीयता प्रतीत होती है। छवि-दर्शन तथा यथार्थ अंकन उनमें गीतात्मकता के स्थान पर कथात्मकता अधिक उत्पन्न करता है। फलतः वे गीतशैली के कलाकार न होकर विभिन्न विषयों पर कविताएँ लिखने की ओर अधिक झुक गये हैं।

भाषा सुलझी हुई है और भाव भी सीधे तथा तीखे हैं।

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य-भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम जाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती !
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !

सुखसिन्धु पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर वही
तेरी विगलित करुणा उदार।

जिनके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार।
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार'।

उस पुण्यभूमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल;
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डस रहे चतुर्दिक विविध व्याल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।

कितनी द्रुपदी के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ !

'पूछे सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ ?
तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त-निधियाँ सारी ?
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, ईरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति-कवि के गान कहाँ ?
तू मौन त्यागकर पूछ आज
बंगाल, नवाबी ताज कहाँ ?

भारत का अन्तिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा 'सीराज़' कहाँ ?
तू तरुण देश से पूछ अरे !
गूँजा कैसा यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तरतल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?
प्राणी के प्रांगण-बीज देख
जल रहा स्वर्ण - युग - अग्निजाल,
तू सिंहनाद-कर जाग यती !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर !
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य . फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार ।
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट् स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा भागे प्रसाद ।

तू मौन त्याग कर, सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल
नव युग - शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग - शंखध्वनि जगा रही !
जागो नगपति ! जागो विशाल !

(हुंकार से)

पाटलिपुत्र की गंगा से

संध्या की इस मलिन सेज पर
गंगे ! किस विषाद के संग
सिसक-सिसक कर सुला रही तू
अपने मन की मृदुल उमंग ?
उमड़ रही आकुल अन्तर में
कैसी यह वेदना अथाह
किस पीड़ा के गहन भार से
निश्चल-सा पड़ गया प्रवाह ?
मानस के इस मौन मुकुल में
सजनी ! कौन-सी व्यथा अपार
बनकर गन्ध अनिल में मिल
जाने को खोज रही लघु द्वार ?

चल अतीत की रंगभूमि में
स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान
विकल-चित्त सुनती तू अपने
चन्द्रगुप्त का क्या जय-गान ?

घूम रहा पलकों के भीतर
स्वप्नों-सा गत विभव विराट
आता है क्या याद मगध का
सुरसरि ! वह अशोक सम्राट् ?

संन्यासिनी-समान विजन में
कर-कर गत विभूति का ध्यान
रो रो कर गा रही देवि ! क्या
गुप्त-वंश का गरिमा-गान ?

गूँज रहे तेरे इस तट पर
गंगे ! गौतम के उपदेश
ध्वनित हो रहे इन लहरों में
देवि ! अहिंसा के सन्देश !

कुहुक-कुहुक मृदु गीत वही
गाती कोयल डाली-डाली
वही स्वर्ण-सन्देश नित्य
बन आता ऊषा की लाली।

तुझे याद है ? चढ़े पदों पर
कितने जय-सुमनों के हार

कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझ में तलवार ?
तेरे तीरों पर दिग्विजयी
नृप के कितने उड़े निशान
कितने चक्रवर्तियों ने हैं
किये कूल पर अवभृथ-स्नान।
विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर
सैल्यूकस की वह मनुहार
तुझे याद है देवि ? मगध का
यह विराट उज्ज्वल शृंगार ?
जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल
बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक, यवन के उन्नत भाल।
उस अतीत गौरव की गाथा
छिपी इन्हीं उपकूलों में
कीर्ति-सुरभि वह गमक रही
अब भी तेरे वन-फूलों में ?
नियति-नटी ने खेल-कूद में
किया नष्ट सारा शृंगार
खंडहर की धूली में सोया
तेरा स्वर्णोदय साकार।

तूने सुख-सुहाग देखा
उदय और फिर अस्त, सखी
देख आज निज युवराजों को
भिक्षाटन में व्यस्त, सखी !

एक एक कर गिरे मुकुट
विकसित वन भस्मीभूत हुआ
तेरे सम्मुख महासिन्धु
सूखा, सैकत उद्भूत हुआ।

धधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार
एक एक कर लगा दहकने
मगध सुन्दरी का श्रृंगार।

जिस दिन जली चिता गौरव की
जय-भेरी जब मूक हुई
जमकर पत्थर हुई न क्यों
यदि टूट नहीं दो-टूक हुई ?

देवि ! आज बज रही छिपी ध्वनि
मिट्टी में नक्कारों की
गूँज रही झन-झन धूलों में
मौर्यों की तलवारों की।

दायें पार्श्व पड़ा सोता
मिट्टी में मगध शक्तिशाली

वीर लिच्छवी की विधवा
वायें रोती है वैशाली !

तू निज मानस ग्रन्थि खोल
दोनों की गरिमा गाती है
वीचि-दृगों से हेर हेर
सिर धुन-धुन कर रह जाती है ।

देवि ! दुःखद है वर्त्तमान की
यह असीम पीड़ा सहना
कहीं सुखद इससे संस्मृति में
है अतीत की रत रहना ।

अस्तु, आज गोधूलि-लग्न में
गंगे ! मन्द मन्द वहना
गाँवों, नगरों के समीप चल
दर्द भरे स्वर में कहना—

"सम्प्रति जिसकी दरिद्रता का
करते हो तुम सब उपहास
वहीं कभी मैंने देखा है
मौर्य-वंश का विभव-विलास"।

श्री उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर जी प्रसाद जी की तरह कवि तथा नाटककार दोनों ही हैं और वे अपने गीत-नाट्यों में दोनों का संयोग भी करते हैं ।

आधुनिक युग के प्रमुख कवियों में उनका स्थान है। पंजाब प्रान्त में साहित्यिक, विशेषतया काव्य की जागृति रखने में उनका बहुत हाथ है। उनका समस्त जीवन साहित्य साधना की कठिनाइयों में बीता। उन्होंने परिस्थितियों के थपेड़ों में भी सफलता का तट पा ही लिया और अपनी सरल रचनाओं से कविता-कानन को आपूरित कर दिया।

वर्तमान राजनीतिक एवं संघर्षात्मक जीवन का प्रभाव उनकी कविताओं पर विशेष रूप से पड़ा है। 'युग-दीप' वर्तमान युग की समस्याओं पर आलोक बिखेरता है। कुछ कविताएँ माधुर्य भाव लेकर भी लिखी गयी हैं। शैली अन्य वर्तमान कवियों की तरह गीति काव्य के उपयुक्त तथा भावपूर्ण है। 'विसर्जन' तथा 'अमृत और विष' इनके और दो काव्य-संग्रह हैं, जो युग-दीप के समान ही हैं।

'तक्षशिला' एक प्रबन्धात्मक रचना है जिसमें प्राचीन भारत का गौरव प्रदर्शित किया गया है। तत्कालीन देश का सुन्दर अंकन है।

कविताओं में जीवन के प्रति असन्तोष तथा विद्रोह की भावना प्रधान रहती है। उन्होंने अतुकान्त तथा मुक्तछन्द में भी रचनाएँ की हैं।

'तीन नाटक', 'मुक्ति-पथ', 'विक्रमादित्य' तथा 'मत्स्यगंधा' आदि नाटक हैं जिनमें भट्ट जी को आशातीत सफलता मिली है। इनके अतिरिक्त "विश्वामित्र' आदि गीति नाट्य हैं जिनमें भट्ट जी की एक अपनी विशेषता और मौलिकता है। यों तो गुप्त-बन्धुओं ने इस परम्परा को चलाया ही थी पर नाटकीय गुण की प्रधानता भट्टजी के नाटकों को व्यक्तित्व प्रदान करती है। वे हिन्दी के निःस्वार्थ सेवी हैं।

'युगदीप' भट्ट जी का अभिनव संग्रह है। कविताएँ इसमें कुछ युद्ध-काल की, कुछ उससे पूर्व की हैं। ये दो रचनाएँ इसी कृति से ली गयी हैं।

धीरे-धीरे युगदीप जला।

अगणित शैशव के हास पिये, यौवन अतृप्त के श्वास पिये,
मलयज दोलित मधुमास पिये,
पीकर भी हिम-सा स्वयं गला, धीरे-धीरे युग-दीप जला।
किंकिणी रात को पहन हँसा, ऊषा पर मुग्ध, न किन्तु रसा,
फूलों के हासों पर न बसा,
दौड़ा न कहीं रुकता न चला, धीरे-धीरे युग दीप जला।
संध्या-प्रभात, दिन-रात पिये, अगणित वसंत-बरसात पिये,
अगणित गरमी हिम-पात पिये,
तूफान मिले न हुआ धुँधला धीरे-धीरे युग-दीप जला।
मानव की स्वार्थ-परायणता मानव की गर्व-परायणता,
मानव की बुद्धिपरायणता—
का पीकर खून हुआ उजला—धीरे-धीरे युग-दीप जला।
मानव की चर्बी से भरकर, बत्ती लाशों की बनी सुघर
संघर्ष अनन्त निगल खरतल,
भू का आलोकित दीप बला—धीरे-धीरे युग-दीप जला।
शैशव यौवन जल क्षार हुए, अगणित पंथी उस पार हुए,
तेरी गति में न विकार हुए,
अपने को खाकर आप चला—धीरे-धीरे युग-दीप जला।

आज नई आई होली है।

महाकाल के अंग-अंग में, आग लगी धरती डोली है
सागर में बड़वानल जागा, जाग उठी ज्वालाएँ नग से,
प्रकृति-प्रकृति के प्राण जल उठे, हालाहल उबले पन्नग से।
स्वर्ग जल उठे, अम्बर रोये, तारों ने आँखें धो ली हैं।

नर आँखों में भर अंगारे, रक्त-प्यास लेकर जागा है।
जीवन ने अपनी साँसों से अपना मरण-दान माँगा है।
मानव के सब बन्धन टूटे, प्राणों की खाली झोली है।

कृष्ण, बुद्ध, ईसा का कहना, क्या इस नर को व्यर्थ हो गया?
सोच रहा हूँ, बैठा-बैठा क्या साहित्य निरर्थ हो गया?
निश्चय, नवयुग देख रहा नव-जीवन की आँखें भोली हैं।

लपटों में साम्राज्य जल रहे, दृष्टि-विन्दु बदले हैं पंकिल,
महामरण की चिनगारी में, झाँक रहे नव आगत चंचल;
हिम-आवृत शव के अधरों ने, एक नई बोली बोली है।
आज नई आई होली है।

'अमृत और विष' भी कवि का नवीन संग्रह है। जीवन के दो विरोधी तत्त्वों को अमृत तथा विष के प्रतीक-स्वरूप ग्रहण किया गया है। इसमें कुछ कविताएँ मनोवैज्ञानिक हैं तथा कुछ प्रगतिवादी ढंग की राजनीति से सम्बन्धित। अधिकांश रचनाएँ अतुकान्त एवं मुक्तछन्द में हैं।

आज का जीवन यही है आज की है यही वाणी

आज उठ अंगार से श्रृंगार कर मेरी जवानी।
कौन है उस पार जो मुझको जगा कर गा रहा है,
भग्न वीणा के स्वरों में गीत भरता आ रहा है,
देख नभ अंगारिका के स्मय खिले निःश्वास जागे,
ढूँढ़ते से पुतलियों के अश्रु में मधुमास जागे,

साँस में युग के सरकते आ रहे हैं प्रलय के घन,
साँस में भूकम्प पर संहारिणी के चपल नर्तन,
ले रहे अँगड़ाइयाँ सब चौंक चुप-चाप खँडहर,
उठ रहे कंकाल पंजर से न जाने कौन से स्वर ?

सुप्त सदियों के अजाने, ले रहे नग आज करवट,
और बढ़ने लगे सागर, तोड़ अपने पुराने तट,
टूटते जाते निशा के स्वप्न से पिछले सहारे,
टूटते जाते तटों के ढूह से हट हट किनारे

झाँकती संसार में नव सृष्टि की कोई कहानी,
आज उठ अंगार से श्रृंगार कर मेरी जवानी।

मैं नहीं हूँ प्यास, जो अति तृप्ति का वरदान माँगूँ,
मैं नहीं हूँ हृदय, जो स्वर से सुसज्जित गान माँगूँ,
मैं नहीं हूँ रूप, जो संसार से अभिमान माँगूँ,
कल्पना के पंख चढ़, ऐश्वर्य का आह्वान माँगूँ,

चाहता हूँ मैं न यौवनका सतत अधिकार मीठा,
चाहता हूँ मैं न यौवन का अधर-उपहार मीठा,
चाहता हूँ मैं जगत का जलन का उपचार मीठा,
यह कि यौवन-सा दुखद संसार का संसार मीठा,

यह कि जीवन क्यों न मेरा दौड़ता उस ओर सरपट
जहाँ जीवन पर न मानव विवशता का हँसे मरघट,
स्नेह से भर दूँ जगत को प्राण से अभिषिक्त कर दूँ,
मधुर मानव-पथ सजा कर अमर सुख से रिक्त कर दूँ,

प्राण में अनुराग भरती जाग री, मेरी जवानी!
आज फिर अंगार से शृंगार कर मेरी जवानी!
झोपड़ी में सो रहा कंकाल का लो हास जागा,
लो हृदय से ही हृदय को पीसता-सा त्रास जागा,

लाश को गतिमय बनाता प्रलय का निश्वास जागा,
जर्जरों में वज्र की भर शक्ति नव विश्वास जागा,
प्राण लेकर मुट्ठियों में सृष्टि का संसार जागा,
विजय लेकर हार में नव सृष्टि का आगार जागा,

बुझ न पायेगी जलन औ, बुझ न पायेगी पिपासा,
हो न पायेगी कभी संघर्ष रहते मूक भाषा,
सुखा डालो अश्रु जग के, वेदना का नाश कर दो,
अब न जीवन को किसी के आसरों का दास कर दो,

उठो, वह जग क्षार होकर पैर के नीचे पड़ा है,
उठो, कल सब आज बन कर देखता तुमको खड़ा है।
वरण करता स्वर्ग वह जो मरण से डरता नहीं है?
मरण पाकर भी कभी क्या वीर भी मरता कहीं है?
आज का जीवन यही है आज की है यही वाणी,
आज फिर अंगार से शृंगार कर मेरी जवानी।

श्री हरिवंशराय बच्चन

बच्चन जन-रुचि के प्रमुख कवि हैं। हिन्दी में 'हालावाद' के एकमात्र प्रणेता एवं उपासक रहे हैं। उर्दू साहित्य के प्रभाव से तथा उमर खय्याम की रुबाइयों की प्रेरणा से उन्होंने खड़ी बोली काव्य में भी 'मदिरालय', 'साकीबाला', 'प्याला' तथा 'पीनेवाला' का सृजन कर दिया। भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं में ये वस्तुएँ कभी प्रमुख नहीं थीं और काव्य में ये सब उर्दू में ही प्रतीक-स्वरूप ग्रहण की गयी थीं, हिन्दी में नहीं। और ये वस्तुएँ बच्चन जी तक ही सीमित भी रहीं। "मधुशाला" उनकी अत्यन्त ही लोकप्रिय रचना है जिसके अनुकरण के शत-शत प्रयास उसकी इस विशेषता के प्रमाण हैं। इसके बाद 'तेरा हार' और फिर 'मधुकलश', 'एकान्त संगीत' 'निशानिमन्त्रण' आदि एक-एक करके कई संग्रह जनता के हृदय में घर करते गये। बच्चन की लोकप्रियता का सबसे प्रधान कारण था उनकी भाषा तथा भाव-व्यंजनाशैली की सरलता। छायावादी कवियों की भाषा इतनी कृत्रिम, क्लिष्ट तथा साहित्यिकता के बोझ से संस्कृत-प्रचुर हो गयी थी कि साधारण पाठक के सामने रसास्वादन में एक अवरोध-सा उपस्थित हो जाता था। बच्चन ने भाषा के इस स्वरूप के प्रति सक्रिय असन्तोष उपस्थित किया और इस दृष्टि से उसका महत्व बहुत ही अधिक है।

अपने व्यक्तिगत जीवन को काव्य में जिस सच्चाई के साथ बच्चन उतारते हैं वैसी सच्चाई तथा सरलता अन्यत्र नहीं मिलती। कभी-कभी

यह वस्तु सीमा से अधिक भी हो जाती है परन्तु यह कवि की भावुकता की ही द्योतिका है। 'सतरंगिनी' जो उनकी नवीनतम कृति है इसका उदाहरण है। एक बार स्नेह के नीड़ का नाश हो जाने पर वे उसके पुनः निर्माण के समर्थन में लिख देते हैं। "नीड़ का निर्माण फिर फिर" परन्तु उन्हें नीड़ की 'नवीनता' में भी अपने अतीत की प्रेरणा को 'तुम' कहकर पुकार उठना पड़ता है—"तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाये।"

इस ओर बच्चन जी ने कुछ अन्य धाराओं पर भी कविताएँ लिखी हैं। बंगाल के अकाल पर लिखी गयी कविता अपने आकार-प्रकार दोनों में महत्वपूर्ण है। फिर भी 'सतरंगिनी' की कुछ अभिनव कविताएँ सन्देश-वाहिनी होने पर भी भाव-भूमि पर गहरी रेखाएँ नहीं बनतीं।

अपने प्रति किये गये सांसारिक आरोपों के उत्तर-स्वरूप लिखी गयी कविता "कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा" अपनी तीव्र अनुभूति में सर्वश्रेष्ठ है। कवि के हृदय पर लगी हुई चोट उसे नासमझ जगत से विद्रोह करके प्रकृति तथा विश्व से तादात्म्य स्थापित करने पर विवश कर देती है।

अब 'हालावाद' भी बच्चन जी से बहुत पीछे छूट चुका है। हिन्दी के आने वाले युग में बच्चन जी कौन रूप धारण करेंगे, किन विचारों से प्रभावित होकर रचना करेंगे, इसका निश्चय करना कठिन है। पहले वे आभ्यन्तर पर अधिक केन्द्रित थे परन्तु अब बाह्यजगत् के प्रति भी जागरूक होते-से प्रतीत हो रहे हैं।

निस्सन्देह बच्चन जी जनता के हृदय को सबसे अधिक छू सके हैं। कविता लिखने में तो बच्चन जी की विशेषता है ही, पढ़ने में और अधिक है जिसके कारण कवि-सम्मेलन में वे जनता को घण्टों मन्त्र-मुग्ध रखते हैं।

"निशा निमन्त्रण" कवि के जीवन के अवसाद में उन क्षणों की कसकती पुकार है जब वह अपनी जीवन-संगिनी को खोकर निशा की गोद में मुंह छिपाने के लिए आकुल हो उठा था। 'श्यामा' को खोकर तमिस्रा के श्यामल अंचल की छाया पाने की चाह में उसे निमन्त्रण तक देना कितना स्वाभाविक है। ये दो गीत इसी कृति के हैं ।

स्वप्न भी छल जागरण भी।
भूत केवल जल्पना है,
औ भविष्यत् कल्पना है,
वर्तमान लकीर भ्रम की ! और है चौथी शरण भी ?

स्वप्न भी छल जागरण भी !
मनुज के अधिकार कैसे !
हम यहाँ लाचार ऐसे,
कर नहीं इन्कार सकते, कर नहीं सकते वरण भी !

स्वप्न भी छल जागरण भी !
जानता यह भी नहीं मन—
कौन मेरी थाम गर्दन
है विवश करता कि कह दूँ व्यर्थ जीवन भी मरण भी

स्वप्न भी छल जागरण भी !
अब निशा देती निमन्त्रण।
महल इसका तम विनिर्मित,
ज्वलित इसमें दीप अगणित

द्वार निद्रा के सजे हैं स्वप्न से शोभन-अशोभन
अब निशा देती निमन्त्रण !
भूत भावी इस जगह पर
वर्तमान समान हो कर
सामने है देश-काल-समाज के तज सब नियन्त्रण
अब निशा देती निमंत्रण !
सत्य कर अपने असम्भव !
पर ठहर नादान मानव !
हो रहा है साथ में तेरे बड़ा भारी प्रवंचन,
अब निशा देती निमन्त्रण

एकान्त 'संगीत', 'निशा निमन्त्रण' के बाद की रचना है। व्यथा का भार एकाकीपन में सुस्थिर होकर चिन्तनशील हो गया था। अतीत की काली छांह कवि के गीतों पर अब भी गहरी थी। शैली वही रही।

तब रोक न पाया मैं आँसू।
जिसके पीछे पागल होकर
मैं दौड़ा अपने जीवन भर
जब मृगजल में परिवर्तित हो मुझ पर मेरा अरमान हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू ?
जिसमें अपने प्राणों को भर;
कर देना चाहा अजर अमर,
जब विस्मृति के पीछे छिपकर मुझ पर वह मेरा गान हँसा ?

तब रोक न पाया मैं आँसू
मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समपर्ण को,
जब मेरी कमजोरी कह कर मेरा पूजित पाषाण हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू।

'आकुल अन्तर', 'एकान्त संगीत' के ऊपर एक नई सीढ़ी है। इन रचनाओं में से प्रत्येक में कवि के मानसिक विकास का एक चिह्न है।

"कितना अकेला आज मैं" के बाद "तू एकाकी तो गुनहगार" कहना अपना एक महत्व रखता है।

लहर सागर का नहीं शृंगार, उसकी विकलता है।
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार, उसकी विकलता है।
विविध रूपों में हुआ, साकार रंगों से सुसज्जित,
मृत्तिका का यह नहीं संसार उसकी विकलता है।
गंध कलिका का नहीं उद्‌गार, इसकी विकलता है।
फूल मधुबन का नहीं गलहार, इसकी विकलता है।
कोकिला का कौन सा व्यवहार ऋतुपति को न भाया?
कूक कोयल की नहीं मनुहार, उसकी विकलता है।
गान गायक का नहीं व्यापार, उसकी विकलता है।
राग वीणा की नहीं झंकार, उसकी विकलता है।
भावनाओं का मधुर आधार साँसों से विनिर्मित,
गीत कवि उर का नहीं उपहार, उसकी विकलता है?

श्री सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण जी मैथिलीशरण जी के अनुज थे। साहित्य में यह युग्म 'गुप्त-बन्धु' नाम से विख्यात हैं। इनकी सबसे अधिक विशेषता है हिन्दी काव्य में उन उपेक्षित विषयों का समाविष्ट करना जो दैनिक जीवन के समीप होते हुए भी कवियों का ध्यान आकर्षित नहीं करते। 'दैनिकी' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। गुप्त जी की शैली सरल होते हुए भी भाव-प्रकाशन में सशक्त है। शब्द-संचय में उलझाव नहीं है। छन्द के प्रवाह में भाषा ढलती चली गई है। 'मौर्यविजय' इनकी आरम्भिक रचना है जिसमें 'छप्पय' में मौर्य्यकालीन ऐश्वर्यपूर्ण भारत का सुन्दर वर्णन है। इसके पश्चात्, आर्द्रा, 'पाथेय', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ' आदि रचनायें साहित्य क्षेत्र में आईं। 'बापू' इनकी अत्यन्त सुन्दर कृति है। गान्धी जी की विचारधारा तथा उदार देश-प्रेम की भावना इनकी चिन्तना का प्रमुख गुण है। इन्होंने कविता में नाट्य-रचना भी की है और इस प्रकार ये कई गुणों में अपने ज्येष्ठ बन्धु के समान हैं।

इनकी भावनाओं में एक प्रकार की निर्मलता है जो पाठक के हृदय को सदैव आकर्षित करती है। इन्होंने जीवन का अध्ययन गम्भीरता से किया था। जिस प्रकार ये अपने वेष में अत्यन्त अकृत्रिम थे उसी प्रकार साहित्यिक सृजन में भी कृत्रिमता का आभास नहीं आने देते थे।

कवि के अतिरिक्त ये कथाकार तथा उपन्यासकार भी थे। 'मानुषी' इनकी कहानियों का सुन्दर संग्रह है। 'नारी', 'गोद' तथा 'अन्तिम आकांक्षा' इनके उपन्यास हैं और इन उपन्यासों में गुप्त जी ने पूर्ण सफलता पायी है। 'नारी' मुख्यतः बहुत मनोहर उपन्यास है।

दैनिकी से:—

"जन-रुचि" को आज के संग्राम की विकट परिस्थिति ने सस्ती और साधारण वस्तुओं की ओर उन्मुख कर दिया है। 'दैनिक' का रचनाकाल यही है। इसमें कवित्व कला सम्भव नहीं।

ये रचनाएँ 'दैनिकी' से ही उद्धृत हैं।

पृथ्वी

खुली दिवा में यहाँ इस समय दीपित दिशा है,
दूर कहीं तर तिमिर चारिणी अभया अर्ध निशा है।
यह अवनी कितनी व्यापक है अतुला निस्संकोचा,
रवि-किरणों का माप-दंड वह पड़ जाता है ओछा।
यहाँ उच्च गिरि पर अब इसका खुला दीखता विस्मय,
वहाँ अथाह अतल में तब यह है अपने में तन्मय।
यहाँ हरित नवांचल में जब है यह पुष्पा भरणी,
वहाँ मरुस्थल में उदासिनी दिग्वसना यह धरणी!
केसर रंग में यहाँ बोरती अपना दिव्य दिगंचल,
घन-तम की दोपहर में आवृत वहाँ पटल यह अविचल।
स्वजन संकुला यहाँ गेहिनी है यह नगर-नगर में,
वहाँ दीखती है तपस्विनी विलग विजन प्रान्तर में।
देखा है हम सबने इसको भिन्न-भिन्न वेशों में।
इस अखंडिता को बाँटा है देशों पर देशों में।
जो समीप में है अपने के; वह अपनी है सारी,
नहीं दूर का देख रहे हम, छोटी दृष्टि हमारी।

भर लाओ जल, भर लाओ जल़ अपने छोटे घट में
बढ़ी आ रही हैं लपको ये लपटें और निकट में।
होकर यों अवसन्न अचेतन,
कर दोगे निज को अधमेन्धन,
हुआ हुआ चुम्बन-आलेहन यह इस अम्बर पट में।
भर लाओ ... ...
नर के भीतर अमर उजागर,
नर है नारायण का आगर,
बद्ध विनत है, विस्तृत सागर अपने सीमित तट में,
भर लाओ... ...
किसकी रसनाएँ उच्छृंखल,
है किस तृष्णा के वश विह्वल!
कुछ तो इन्हें कर सको शीतल विकट ज्वलन-स़ंकट में,
भर लाओ... ...

एक फूल की चाह

(१)

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ हृदय चिताएँ धधका कर
महा महामारी प्रचंड हो फैल रही थी इधर-उधर।
क्षीण कंठ मृत वत्साओं का करुण रुदन दुर्दान्त नितान्त,
भरे हुए था निज कृश रव में हाहाकार अपार अशान्त।
बहुत रोकता था सुखिया को 'न जा खेलने को बाहर'
नहीं खेलना रुकता उसका नहीं ठहरती वह पल भर।

मेरा हृदय काँप उठता था बाहर गई निहार उसे,
यही मानता था कि बचा लूँ किसी भाँति इस बार उसे।
भीतर जो डर रहा छिपायें हाय, वही बाहर आया।
एक दिवस सुखिया के तनु को ताप-तप्त मैंने पाया।
ज्वर में विह्वल हो बोली वह क्या जानूँ किस डर से डर,
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर।

(२)

बेटी बतला तो तू मुझको, किसने तुझे बताया यह,
किसके द्वारा, कैसे तूने भाव अचानक पाया यह ?
मैं अछूत हूँ मुझे कौन हा! मन्दिर में जाने देगा;
देवी का प्रसाद ही मुझको कौन यहाँ लाने देगा ?
बार बार, फिर फिर, तेरा हठ पूरा इसे करूँ कैसे;
किससे कहूँ कौन बतलावे धीरज हाय धरूँ कैसे ?
कोमल कुसुम-समान देह हा! हुई तप्त अंगारमयी;
प्रतिपल बढ़ती ही जाती है एक वेदना व्यथा नई!
मैंने कई फूल ला कर रक्खे उसकी खटिया पर,
सोचा—शान्त करूँ मैं उसको किसी तरह तो बहलाकर।
तोड़-मोड़कर वे फूल फेंक सब बोल उठी वह चिल्लाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर।

(३)

क्रमशः कंठ क्षीण हो आया, शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव-नव उपाय की चिन्ता में मैं मन मारे,

जान सका न प्रभात सजग से हुई अलख कब दोपहरी,
स्वर्णघनों में कब रवि डूबा कब आई संध्या गहरी।
सभी ओर दिखलाई दी बस अंधकार की ही छाया,
छोटी-सी बच्ची को ग्रसने कितना बड़ा तिमिर आया!
ऊपर विस्तृत महाप्रकाश में जलते से अंगारों से,
झुलसी-सी जाती थीं आँखें जगमग जगते तारों से।
देख रहा था——जो सुस्थिर हो नहीं बैठती थी क्षण भर,
हाय, वही चुपचाप पड़ी थी अटल शान्ति-सी धारण कर।
सुनना नहीं चाहता था मैं उसे स्वयं ही उकसा कर।
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर,

(४)

हे माता, हे शिवे, अम्बिके तप्त ताप यह शान्त करो,
निरपराध छोटी बच्ची यह, हाय न मुझसे इसे हरो।
काली कान्ति पड़ गई इसकी हँसी न जाने गई कहाँ
अटक रहे थे प्राण क्षीणतर साँसों में ही हाय यहाँ!
अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई है यह तेरी तृषा नितान्त,
तो कर ले उसे इसी क्षण मेरे इस जीवन से शान्त!
मैं अछूत हूँ तो क्या मेरी विनती भी है हाय! अछूत,
उससे भी क्या लग जावेगी तेरे श्री-मन्दिर को छूत?
अरी रात! क्या अक्षयता का पट्टा लेकर आई तू!
आकर अखिल विश्व के ऊपर प्रलय घटा-सी छाई तू!

पग भर भी न वढ़ी आगे तू डट कर बैठ गई ऐसी,
क्या न अरुण आभा जायेगी, सहसा आज विकृति कैसी।
युग के युग क्यों बीत गये हैं तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू बोल, बोल! कुछ तो वेटी!
वह चुप थी, पर गूँज रही थी उसकी गिरा गगन भर-भर,
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर!

(५)

"कुछ हो, देवी के प्रसाद का एक फूल तो लाऊँगा,
हो तो प्रातःकाल शीघ्र ही मंदिर को मैं जाऊँगा!
तुझ पर देवी की छाया है और इष्ट है यही तुझे;
देखूँ देवी के मंदिर में रोक सकेगा कौन मुझे?"
मेरे इस निश्चल निश्चय ने झट से हृदय किया हलका,
ऊपर देखा अरुण राग से रंजित भाल नभस्थल का!
झड़-सी गई तारकावलि थी म्लान और निष्प्रभ होकर;
निकल पड़े थे खग नीड़ों से अपनी सुध-बुध-सी खोकर!
रस्सी डोल हाथ में लेकर निकट कुएँ पर जा जल खींच,
मैंने स्नान किया शीतल हो सलिल-सुधा से तनु को सींच।
उज्ज्वल वस्त्र पहन घर आकर अशुचि-ग्लानि सब धो डाली,
चन्दन, पुष्प, कपूर, धूप से सजा ली पूजा की थाली।
सुखिया के सिरहाने जाकर मैं धीरे से खड़ा हुआ;
आँखें झँपी हुई थीं मुख भी मुरझा-सा था पड़ा हुआ।

मैंने चाहा उसे चूम लूँ किन्तु अशुचिता से डर कर,
अपने वस्त्र संभाल सिकुड़ कर खड़ा रहा कुछ दूरी पर।
वह कुछ-कुछ मुसकाई सहसा जाने किस स्वप्नों में लग्न,
उसकी वह मुसकाहट भी हा, कर न सकी मुझको मुद-मग्न।
अक्षम मुझे समझ कर क्या तू हँसी कर रही है मेरी?
बेटी, जाता हूँ मन्दिर मैं आज्ञा यही समझ तेरी।
उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही बोल उठा तब धीरज धर—
तुझको देवी के प्रसाद का एक फूल तो दूँ लाकर।

(६)

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर मन्दिर था विस्तीर्ण विशाल,
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे पाकर समुदित रविकर जाल।
परिक्रमा-सी कर मन्दिर की, ऊपर से आकर झर-झर,
वहाँ एक झरना झरता था कल-कल मधुर गान कर-कर।
पुष्प-हार-सा जँचता था वह मन्दिर के श्री चरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी पूजा के उपकरणों में।
दीप धूप से आमोदित था मन्दिर का आँगन सारा,
गूँज रही थी भीतर-बाहर मुखरित उत्सव की धारा।
भक्त वृन्द मृदु कंठ से गाते थे सभक्ति मुदमय—
पतित-तारिणी, पापहारिणी माता, तेरी जय-जय-जय!
पतित-तारिणी, तेरी जय-जय मेरे मुख से भी निकला,
बिना बढ़े ही मैं आगे को जाने किस बल से ढिकला।

माता, तू इतनी सुन्दर है नहीं जानता था मैं यह,
माँ के पास रोक बच्चों की, कैसी विधि यह तू ही कह!
आज स्वयं अपने निदेश से तूने मुझे बुलाया है,
तभी आज पापी अछूत यह चरणों तक आया है।
मेरे दीप-फूल लेकर वे, अम्बा को अर्पित करके,
दिया पुजारी ने प्रसाद जब आगे को अंजलि भर के।
भूल गया उसका लेना झट, परम लाभ-सा पाकर मैं,
सोचा,—बेटी को माँ के ये पुण्य पुष्प दूँ जाकर मैं।

(७)

सिंह पौर से भी आँगन तक नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि 'कैसे यह अछूत भीतर आया?'
पकड़ो देखो भाग न जावे बना धूर्त यह है कैसा,
साफ स्वच्छ परिधान किये है भले मानुसों के जैसा!
पापी ने मन्दिर में घुस कर किया अनर्थ बड़ा भारी;
कलुषित कर दी है मन्दिर की चिरकालिक शुचिता सारी।
ऐ क्या मेरा कलुष बड़ा है देवी की गरिमा से भी;
किसी बात में हूँ मैं आगे माता की महिमा के भी?
माँ के भक्त हुए तुम कैसे करके यह विचार खोटा?
माँ के सन्मुख ही माँ का तुम गौरव करते हो छोटा!
कुछ न सुना भक्तों ने झट से मुझे घेर कर पकड़ लिया।
मार-मार कर मुक्के घूँसे धम से नीचे गिरा दिया।

मेरे हाथों से प्रसाद भी बिखर गया हा ! सबका सब,
हाय ! अभागी बेटी तुझ तक कैसे पहुँच सके यह अब।
मैंने उनसे कहा "दंड दो मुझे मार कर ठुकरा कर,
बस यह एक फूल कोई भी दो बच्ची को ले जाकर।"

(८)

न्यायालय ले गये मुझे वे, सात दिवस का दंड विधान,
मुझको हुआ, हुआ था मुझसे देवी का महान् अपमान।
मैंने स्वीकृत किया दंड वह शीश झुकाकर चुप ही रह,
उस असीम अभियोग, दोष का क्या उत्तर देता क्या कह ?
सात रोज ही रहा जेल में या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रान्त बरसा करके भी आँखें तनिक नहीं रीतीं।
कैदी कहते--"अरे मूर्ख क्यों ममता थी मन्दिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी दूर न था गिरजाघर भी।"
कैसे उनको समझाता मैं वहाँ गया था क्या सुख से;
देवी का प्रसाद चाहा था बेटी ने अपने मुख से।

(९)

दंड भोगकर जब मैं छूटा पैर न उठते थे घर को,
पीछे ठेल रहा था कोई भय-जर्जर तनु पञ्जर को।
पहले की सी लेने मुझको नहीं दौड़कर आई वह;
उलझी हुई खेल में ही हाँ अबकी दी न दिखाई वह।

उसे देखने मरघट को ही गया दौड़ता हुआ वहाँ—
मेरे परिचित बन्धु प्रथम ही फूँक चुके थे उसे जहाँ।
बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर छाती धधक उठी मेरी,
हाय! फूल सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी!
अन्तिम बार गोद में बेटी तुझको ले न सका मैं हा!
एक फूल माँ के प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हा!
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दण्ड न पा सकता था क्या।
बेटी की छोटी इच्छा का वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता?
यहीं चिता पर धर दूँगा मैं कोई अरे सुनो वर दो—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो!

श्री भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण जी भी हिन्दी के अभिनव किन्तु बहुमुखी प्रतिभावाले विचारशील साहित्यिक हैं। प्रणय-विह्वल प्राणी की पुकार उनकी कविताओं में सदैव ही रहती है।

'प्रेम-संगीत' इसका प्रमाण है। इस प्रेम में किसी भी आध्यात्मिक संकेत की स्थिति नहीं है, जीवन के यथार्थ की अनुभूतिमय व्यंजना है। यौवन के प्रत्येक स्पन्दन को ग्रहण करके उसे स्वर दे देने की लालसा इनमें प्रबल है। इनके 'प्रिये' के सम्बोधन में मिठास के साथ-साथ आलम्बन के रूप की एक झाँकी-सी प्रतीत होती है। आकांक्षाओं में जीवन-दर्शन की ज्ञेयता के साथ-साथ भावना का भोलापन भी है।

'मानव' इनकी अन्य काव्य-कृति है। 'भैंसागाड़ी' आदि कविताएं इन्हें भी जनवाद की ओर झुकता हुआ प्रमाणित करती हैं। यह विशेषता समय के प्रत्येक नवीन हिन्दी कवि में रही है। प्रणय के प्रभाव से कविता वियोग के दुःख से झुलस जाती है, पर जीवन की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर बौद्धिक-दर्शन के प्रभाव में आ जाती है। भगवतीचरण जी के विषय में भी ऐसा ही हुआ।

ये कवि के अतिरिक्त उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक भी हैं। "आनातोले फ्रांस की छाया" के छायानुवाद के रूप में लिखी गयी 'चित्रलेखा' इनकी अमर कृति है। पाप-पुण्य के प्रश्न को लेकर इसमें कवि दार्शनिक

बन गया है। 'तीन वर्ष' तथा 'पतन' अन्य दो उपन्यास हैं। 'इंसटालमेंट' और 'दो बाँके' कहानी-संग्रह हैं। इस कला में भी ये अपने कवि की तरह से ही कुशल हैं।

'नूरजहाँ की कब्र पर' नामक कविता में उनका कहानीकार झलक रहा है।

भगवतीचरण जी एक सफल गीतिकार हैं और वे भावनाओं के प्रकाशन में सिद्धहस्त हैं। कहने की उनकी अपनी शैली है जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है। उनका दृष्टिकोण उनकी एक कविता की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में निहित है:—

हम दीवानों की क्या हस्ती ?
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले ?
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले,

यह अशान्त सा जीवन हो।
यहाँ प्यार में कसक मिली हो यौवन में पागलपन हो॥
पंचम की मादक उठान हो और मलय में ही उन्माद।
कलिका का उच्छ्वास-भरा विस्मृति का सुरभित उपवन हो॥
मानस की लहरों में क्रीड़ा करती हो हलचल दिन रात।
मेरे पुलकित स्वास-तार पर कुछ करुणा का कम्पन हो॥
एक हाथ मेरा विनाश हो और दूसरा हो निर्माण।
विश्व खिलौना बने, कहीं पर हँसी, कहीं पर रोदन हो॥

(मधुकण से)

'प्रेम संगीत' भगवतीचरण जी की प्रारम्भिक रचना है जो अपनी कविताओं के माधुर्य के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुई। वर्मा जी में निश्छल उद्‌गारों का अभिव्यक्तीकरण है जो हृदय को बरबस स्पर्श कर लेता है। कथन में स्पष्टता है तथा भावों में तीव्रता:—

तुम लुटाती आ रही हो कौन-सा उन्माद रंगिनि?
आज मानस के विकम्पित मौन में उन्मत्त मंथन
आज ढीले पड़ रहे हैं ज्ञान के विकराल बंधन,
आज सपनों की अवलियाँ आँसुओं के तार में बिंध
प्रेम की जयमाल बन कर रच रही सुकुमार सिहरन!
तुम जगाती आ रही हो किस मिलन की याद रंगिनि!
तुम लुटाती आ रहीं हो कौन-सा उन्माद रंगिनि?

तुम बिछाती चल रही हो कौन-सा छवि जाल रंगिनी?
चपल गति से लिपट सौरभ कर रहा है विसुध नर्तन;
नूपरों के स्वरों में संगीत करता चरण-चुम्बन;
अरुण पद-तल के प्रभा की रश्मियों के तार शत-शत

वुन रहे हैं भावना से मुक्त शाश्वत मुग्ध यौवन!
कल्पना के सूत्र में हैं वँध रहे दिशिकाल रंगिनि!
तुम बिछाती चल रही हो कौन-सा छवि जाल रंगिनि ?
रच रही पद-चाप में तुम किस प्रणय के गीत रंगिनि ?

एक पद में सिहर उठती सुप्त युग-युग की कहानी;
एक पद में विहँस उठती सृष्टि की धुँधली निशानी,
एक पद में प्रकृति कोमल एक में तुम केलिमय रति,
आज सहसा जग पड़ा है पुरुष पावन, मदन मानी।

आज आगत मिट गया है आज लुप्त अतीत रंगिनि ?
रच रही पद-चाप में तुम किस प्रणय के गीत रंगिनि ?
अलस नयनों में लिये हो किस विजय का भान रंगिनि,
झुक पड़ी मधु से विकल पुलकित कली ने आँख खोली;

झुक पड़ी भूली हुई-सी आज पागल मधुप-टोली;
झुक पड़ी कोमल झुकी-सी आम्र-डाली पर कुहुक कर;
और सौरभ भार से झुक कर मलय-बतास डोली।
आज बन्धन बन रहा है प्यार का उपहार रंगिनि!
अलस नयनों में लिये हो किस विजय का भार रंगिनि ?

कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें!
जीवन सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये!
संयोग क्षणिक फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये?

पल भर तो साथ-साथ वह लें;
कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें।
आओ कुछ ले लें औ, दे लें।

हम हैं अजान पथ के राही,
चलना जीवन का सार प्रिये!
पर दुःसह है, अति दुःसह है—
एकाकीपन का भार प्रिये!

पल भर हम-तुम मिल हँस खेलें;
आओ कुछ ले लें कुछ दे लें;
हम तुम अपने में लय कर लें;

उल्लास ओर सुख की निधियाँ,
बस, इतना इनका मोल प्रिये!
करुणा की कुछ नन्हीं बूँदें
कुछ मृदुल प्यार के बोल प्रिये?

सौरभ से अपना उर भर लें।
हम तुम अपने में लय कर लें।

हम तुम जी भर खुल कर मिल लें।
जग के उपवन की यह मधु श्री,
सुषमा का सरस वसन्त प्रिये!
दो साँसों में बस जाय और
ये साँसें बने अनन्त प्रिये!

मुरझाना है आओ खिल लें,
हम तुम जी भर कर मिल लें।

× × ×

हम दीवानों की क्या हस्ती?
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले!
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;

आये बन कर उल्लास अभी,
आँसू बन कर बह चले अभी;

सब कहते ही रह गये अरे!
तुम कैसे आये कहाँ चले?
किस ओर चले यह मत पूछो,
चलना है बस, इसलिए चले;
जग से उसका कुछ लिये चले,
जग को उसका कुछ दिये चले,

दो बात कहीं दो बात सुनीं !
कुछ हँसे और कुछ रोये,

छक कर सुख दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिये चले ?

हम भिखमंगों की दुनिया में,
स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले,
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले,

हम मान-रहित अपमान-रहित
जी भर कर खुल कर खेल चुके,

हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले।

हम भला-बुरा सब भूल चुके
नत-मस्तक हो मुख मोड़ चले
अभिशाप उठा कर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,

अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें, रुकने वाले ?

हम स्वयं बँधे थे और स्वयं
हम अपने बन्धन तोड़ चले

श्री नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र हिन्दी की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों एवं धारणाओं के प्रतीक हैं। व्यक्तिगत जीवन की कोमलता पर होनेवाले आघातों की कसक तथा प्रणय के बन्धनों की जटिल कसमसाहटों को वाणी देने की साधना उनके प्रारम्भिक काव्य की पहचान है। अपने हृदय की बात को निश्छलता से कह देने में वे 'बच्चन' के समीप हैं और वियोग-जनित वेदनाओं की अनुभूति में 'अंचल' के। 'प्रवासी के गीत' संग्रह अपने नामकरण से ही वस्तुस्थिति का संकेत करता है। तारुण्य की लहरों पर कुसुम-सा बहता हुआ हृदय कभी इस तट की ठोकर खाकर, कभी उस तट से टकरा कर अपनी कहानी कहता रहता है। नरेन्द्र का जीवन भी ऐसी ही अनुभूतियों से अनुप्राणित है। 'प्रभात फेरी' उनका दूसरा संग्रह है। इसमें भी भाव-धारा पहले की-सी ही है। इसके पश्चात् कई संग्रह प्रकाश में आये; 'मिट्टी और फूल' तथा 'पलाश वन' आदि। इनमें नरेन्द्र का कवि प्रगतिवादी विचार-धारा से प्रभावित हुआ-सा अपनी गाथा को भूलकर मानव-जीवन की दैनिक समस्याओं पर विचार करता प्रतीत होता है। एक धरातल से उतरकर दूसरे धरातल पर आना कवि के अन्तर्भूत परिवर्तनों को सूचित करता है। पठन-पाठन तथा अनुभव के आधार पर जो मान्यताएँ बनती हैं, कवि उनको लेखनी पर उतारता जाता है। अपनी व्यष्टि को समष्टि से मिला देने

की इस चेष्टा में उससे भावना की तीव्रता खोकर विचारों की सजगता को ग्रहण करना पड़ा है।

इधर उनका एक कथागीत 'कामिनी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसे खण्ड-काव्य न कहकर उन्होंने कथा-गीत कहा है, क्योंकि इसमें गीति-तत्व अधिक हैं। यह भी एक प्रणय-गाथा है।

नरेन्द्र में प्रकृति के आनुषंगिक अवलोकन की एक लालसा सदैव रहती है। उसके वैभव की गोद में उनकी आँखों को सुख मिलता है। परन्तु प्राकृतिक वस्तुओं पर मानवीय भावनाओं का आरोप करके नदी के दो किनारों की तुलना वे दो चिर-वियोगी प्रेमियों से भी कर सकते हैं जिनके बीच में ज़ीवन-प्रभाव चिरन्तन है।

भाषा तथा शैली सरल तथा भावनाओं के अनुकूल है। आधुनिकता का विशेष आग्रह है। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग वे निःसंकोच होकर करते हैं। कोट, बटन-होल आदि इसके उदाहरण हैं।

'पलाश वन' नरेन्द्र जी की स्फुट कविताओं का संग्रह है। प्रकृति के खण्ड-चित्रों के दर्शन में तन्मयता है। पर्वत, निर्झर, आकाश-धरणी सबके साथ कवि की आत्मा रमण करने को उत्सुक रहती है परन्तु इसके साथ निराश जीवन सदैव ही प्रक्षेपित होता रहता है।

शान्त है पर्वत समीरण मौन है यह चीड़ का वन भी।
वालक की वात सी आई गई सी हो गई है बात,
नखत ज्यों आँसू पूछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो रो रात!
रुकेंगे निश्वास मेरे शान्त होगा चिर विकल मन भी,
रुको झंझा, फिर खड़ी दृग सामने गिरि पर, असित पर पाँत
नील नभ ऊपर हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात
खुलेगा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी।
यह खुला नभ,यह धुला नभ,खिल रही यह चाँदनी अनमोल
यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदनी सी दृष्टि उर खोल
खुली कलियों से खुलेंगे ही हमारे मोह बन्धन भी।

'कर्णफूल' कवि की रचनाओं का दूसरा संग्रह है। प्रस्तुत कविता इसी की अन्तिम कविता है।

आह्वान

मेरे पंकिल अहंकार में,
जागो हे अकलुष पंकज!
चपल चित्त से विकल नील में,
जागो, स्थिर तप के नीरज!

अन्तर में अभाव को भर दो,
बन अक्षय आभा साकार,
एक कमल के अमल रूप में,
उमड़ पड़ो हे अपरम्पार !

क्षुद्र हृदय के क्षीर-सिन्धु में,
जागो, सरसिज बन अम्लान !
प्रेम-ज्योतियुत दीप-पुष्प बन,
ज्योतित कर दो जीवन-प्राण !

यहीं छिपे हो तुम मुझही में,
मेरे तुम पंकिल मन में !
यहीं कहीं चंचल लहरों से,
खेल रहे हो जीवन में !

आह, आज ही तो संध्या के,
मौन अधर कह गये अजान,
बता गये तुम को मेरे धन
जगा गये वे सोते प्राण !

मेरे पंकिल अहंकार में,
जागो करुणा के पंकज !
जागो मन के चपल नीर में,
सतत शान्त तप के नीरज !

रुद्र रूप भारत

भारत, अधिनायक, गण नायक, जागें फिर शंकर प्रलयंकर !
जिनका तनिक पार्श्व-परिवर्तन था विहार भूकम्प भयंकर,
जिनके रोओं के हिलने से नगर गिरे थर-थर भय कातर,
जिनकी साँसों के कम्पन में,
एक साथ हिल उठे निमिष में दिग्दिगंत भू सातों सागर,
एक बार फिर करवट बदलें, सुधि लें वे त्रिशूलधारी हर !
फैले लोक लोक में जिसके हिम-सित अक्षय केश हिमालय,
केश-वासिनी गंगा जिसके नित गाती रहती गुण अक्षय,
चन्दन और विभूति रमाये
शशि औ, नयन वह्नि सिर धारे, जिससे उर में जीवाशय लय,
निद्रा त्यागे, जागे क्षण में मेरे मन के प्रतिपालित हय !
साँपू, सिन्धु, पंचनद, यमुना, नील-कंठ आभूषण अहिदल;
चरण चूमता नित रत्नाकर, शोभित मुंड-माल विंध्याचल,
राजस्थानी मरुथल खप्पर
दक्षिण की सरिताएँ चंचल, मुंड-माल शोणित वाहन दल !
जाग उठें अब शांत नींद से रुद्र-रूप में ऐसे शंकर !
साँसों से कश्मीर सुवासित, साँसों से कम्पित भू अम्बर,
स्मिति-मिस-भासित मानसरोवर, वक्रहास भयभीत चराचर,
सती, शक्ति, भूतों के सहचर,
मरघट, मलय-निवासी शंकर, वह्नि नयन, त्रिनयन शिव,
—शशिधर,

फूट पड़ें भूगर्भानल से तोड़ विश्व का आडंबर हर !

(प्रभात फेरी से)

'प्रवासी के गीत' कवि की अत्यन्त लोक-प्रिय रचना है। प्रस्तुत कविताएँ उसी में से ली गयी हैं। माधुर्य्य भाव की रचनाएँ अपनी विरह-जनित कोमलता में सुन्दर हैं। कालिदास का यक्ष भी प्रवासी था और इस कृति का रचयिता भी। सहस्रों वर्षों का अन्तर भी मानव के अन्तरतम की एकता को भंग नहीं कर पाता।

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह-व्याकुल प्रवासी ?
अस्त रवि सी हो गई क्या श्रान्त म्लान विलुप्त आशा ?
क्या अभी से सोच कल की, ली वसा मन में निराशा।

पड़ गई बुझते दिवस की भग्न उर पर म्लान छाया।
गेह जाते देख पक्षी या कहीं विश्राम भाया ?
ओ निराश्रित ! नियति शाशित ! व्यथित क्यों जब तक मही है,
धूलि कण तृण को सदा जो आसरा देती रही है ?

देख ऊपर कुन्द-तारक-पुंज से नभ उर लिखा है ?
जहाँ फूटे भाग्य से धन का सदा आश्रय मिला है ?
माधवी की गन्ध में ही अन्ध अब क्यों झपीं पलकें ?
याद आई क्या प्रिया की सुरभि-खींची शिथिल अलकें ?

क्यों उदित-शशि-म्लान-मुख को देख अब छाई उदासी।
विरह-विधुरा शशिप्रिया की याद आई क्या प्रवासी ?

प्राण तन में है हृदय में है प्रिया का ध्यान जब तक,
प्रवासी ! जीवित रहेगा तू सदा बन स्नेह-दीपक !
जल, प्रिया की याद में जल, चिर-लगन बन कर प्रवासी !
स्नेह की बन ज्योति जग में, दूर कर उर की उदासी !
आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझकर सो नहीं पाते विकल-खग
प्राण जैसे स्वप्न ही सज समझ कर, नींद से हूँ मैं गया जग !
पूर्णिमा है, रात आधी शीश पर शशि बिम्ब आया,
पेड़ के पैरों पड़ी अब, घूम फिर कर श्रान्त छाया !
मैं विजन के वृक्ष-सा हो, शशि सदृश तुम दूर हो चिर,
किन्तु मेरे भाव छाया से नहीं अब भी हुए थिर !
दूर हैं वे चरण पावन, मैं निराश्रित बिना साधन,
ग्रथित सुधि के सिन्धु में अब भ्रमित भँवरों में हुआ मन,
थक गया हूँ चाहता हूँ लूँ कहीं विश्राम क्षण भर,
किन्तु पैरों में गिरूँ किसके तुम्हें मैं छोड़ सुन्दर ?
दूर हो तुम दूर ही से भेजती निस्सार सपने,
व्यर्थ है पर स्वप्न मिथ्या, दो बढ़ा श्री-चरण अपने,
अचिर सपनों का करूँ क्या जाग जिनको भूल जाऊँ ?
नींद दो जिससे जगूँ, निज को अकेला ही न पाऊँ !
मैं अकेला, देख शशि को आह भर कर
जागता हूँ सो रहा जग।
किन्तु किस अज्ञात की पद-चाप सुन कर,
कर उठे अब रव जगे खग ?

कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सम्मुख !
क्षण भर को तो दिन भर के सब था भूल गया श्रम-सुख-दुख
सहसा सफेद दीवारों पर आई हलकी सी छाया,
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण तड़ित-सा ध्यान तुरत यह छाया
पर मुड़ कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँस कर निकली;
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर वदली !

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

'अंचल' का काव्य छाया की अस्पष्टता, काल्पनिकता तथा अनैहिकता के प्रति स्पष्टता, यथार्थता एवं ऐहिकता का विद्रोह है। रीति-काल की जिस शृंगारिक भौतिकता की प्रतिक्रिया में छायावाद का सूत्रपात हुआ उसी का वर्तमान समाज तथा उसकी समस्याओं के माध्यम से छना हुआ रूप अंचल के काव्य का आधार है। छायावाद की सूक्ष्मताओं की पृष्ठ-भूमि में अंचल की सौंदर्य-भावनाएं अधिक मांसल तथा स्वस्थ हैं। इस क्रान्ति विधायक का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा विनष्ट हो चुका है।

'अंचल' को किसी वाद-विशेष का प्रतिपादक न होने पर भी प्रगतिवादी कहा जाता है, सम्भवतः इसलिए कि यह युग प्रगतिवाद का है और आलोचक इस काल की किसी भी कृति को 'वाद' के बन्धन में लाने के लिए सचेष्ट रहते ही हैं। फिर 'अंचल' की 'करील' आदि कुछ कृतियों में उन्हें अपने निर्णय का आधार भी मिल जाता है।

'अपराजिता' तथा 'मधूलिका' अंचल के दो प्रारम्भिक संग्रह हैं और इन्हीं के द्वारा 'अंचल' की ख्याति हिन्दी संसार में छा गयी। 'मधूलिका' प्रथम कृति है और 'अपराजिता' दूसरी। दोनों नाम छायावादी हैं अतएव

भ्रामक भी, क्योंकि कविताओं में छायावाद के वाद की नवीनता की चाह है। ये दोनों संग्रह कवि के उस जीवन-काल के हैं जब उसकी तरुणाई स्नेह के कोमल कठिन आघातों से रीझ-खीझ कर कभी मुस्कराती और कभी कराह उठती थी। अधिकतर वियोग-पक्ष ही प्रधान है। व्यथा की आँच से न जाने कितनी पंक्तियाँ दग्ध हैं। उस काल के जीवन में एक खास किस्म की प्रेरणा थी, जिससे कवि के अन्तर में बराबर स्वप्न और सत्य, सौन्दर्य और तृष्णा, असन्तोष और अभिशाप की आग लगी रहती थी। इसके पश्चात् 'अंचल' के कई संग्रह प्रकाश में आये। 'किरण वेला', 'करील', 'लाल चूनर' आदि-युग की विचार-परम्परा तथा देश-समाज की समस्याओं की छाप सभी रचनाओं पर है। जीवन में आने वाले परिवर्तनों का क्रमिक विकास हमें इन कृतियों में उपलब्ध हो जाता है।

कवि के साथ-साथ 'अंचल' कहानीकार तथा उपन्यास-लेखक भी हैं। 'तारे' तथा 'ये वे बहुतेरे' उनके कहानी-संग्रह हैं और 'चढ़ती धूप' उपन्यास।

उनके विचारों का संग्रह भी 'समाज और साहित्य' के नाम से प्रकाशित हो गया है।

'अंचल' हिन्दी के तरुण साहित्यिक हैं अतएव उनके विषय में सीमा रेखा बनाना असम्भव है। भविष्य में वे हिन्दी को कुछ और प्रौढ़ कृतियाँ दे सकेंगे।

फूल काँटों में खिला था,
सेज पर मुरझा गया।
जगमगाता था उषा-सा कंटकों में वह सुमन,
स्पर्श से उसके तरंगित था सुरभिवाही पवन,
ले कपूरी पंखुरियों में फूल मधुऋतु का सपन,
फूल काँटों में खिला था,
सेज पर मुरझा गया।
प्रखर रवि का ताप-झंझा।
के असह झोंके कठिन;
कर न पाये उस तरुण
संघर्ष कामी को मलिन,
किन्तु झाड़ी से अलग,
हो रह न पाया एक दिन,
फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।
जो अडिग रहता अड़ा तूफान में बरसात में,
टूट जाता है वही तारा शरद् की रात में,
मुक्त जीवन को प्रगति भी द्वन्द्व में संघात में,
फूल काँटों में खिला था,
सेज पर मुरझा गया।
× × ×
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।
अभी कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर,

वहे प्रतिरोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर
वुझा दिल का दिया शायद किरण-सा खिल उठे जलकर
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें!

तुम्हारे रूप का सित आवरण कितना मुझे शीतल,
तुम्हारे कंठ की लघु वंसरी जलधार-सी चंचल,
तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी आत्मा उज्ज्वल,
उलझती फड़फड़ाती प्राण-पंछी की तरुण पाँखें!

लुटाता फूल सौरभ-सा तुम्हें मधु-वात ले आया,
गगन की दूधिया-गंगा लिये ज्यों शशि उतर आया,
ढहे मन के महल में भर गई किस स्वप्न की माया,
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें!

मुझे लगता तुम्हारे सामने मैं सत्य बन जाता,
न मेरी पूर्णता को देवता कोई पहुँच पाता,
मुझे चिर प्यास वह अमरत्व जिससे जगमगा जाता,
ठहर जाओ घड़ी-भर और तुमको देख लें आँखें।

"आज कवि का मूक क्यों स्वर"

कर रहा चीत्कार जब संसार सारा नष्ट होकर—
आज कवि का मूक क्यों स्वर?
जल रही सुख शान्ति—संयम से मनुज का व्याप्त जीवन,
आ गया जब नाश सन्मुख ले मरण के नग्न बन्धन,

आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
ले शतश आधार जिसका था खड़ा अपदस्थ मानव,
ढह रहा वह युग विनिर्मित चेतना का स्तम्भ ज्यों शव,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
रुक गया जब आज जगती की प्रगति का स्रोत सारा
विश्व-चिंतन के प्रवाहों की पड़ी अवरुद्ध धारा,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
यह निहत्थों औ निरीहों का महा बलिदान कातर,
दीर्घ शोषण का चरम वीभत्स यह विद्रूप लखकर,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
सृष्टि के आदिम युगों की मुक्त बर्बरता लजाती,
त्राणसंसृति का न दिखता मृत्यु की भरती न छाती
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
चीर तम-तल,
क्या न जीवन का उठेगा उल्लसित विजयी महाबल,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
(करील से)

अब देर नहीं निशि ढलने में
यह राह नहीं मेरी देखी कुछ भय सा लगता चलने में।
जीवन से मुझको मोह नहीं कब मैं मरने से घबराता,
एकाकीपन जैसे मुझको खाये जाता,
लहरों में डूब रहा है शशि विह्वल है सरिता की धारा,

बादल का कोना उठा जगत में जाग उठा प्रभात तारा,
हैं ज्ञान नहीं अगले पथ पर कितने गह्वर कितने भूधर,
मानव की गति से वैर किये जिनका प्रति डग प्रत्येक शिखर
पथ के दुःसह सूनेपन में है साथ नहीं मेरे कोई,
प्यासे प्राणों में बल भर कर जाग्रत करके जो गति सोई,
किरणों के संग चल दूँगा मैं जग के संघर्षों के पथ पर,
रजनी भी डर से चिपटी थी जो याद, यहीं उसको तजकर
अम्बर में आग जला जल्दी निकलेगा रवि ज्वालावाही,
बढ़ आऊँगा कितना आगे तब तक मैं प्रगति-स्रोत राही।

(करील से)

आह्वान

ले चलो नौका अतल में

उड़ रहा उन्मत्त दुर्दिन आज जाग्रत प्राण मेरे?
आज अन्तर में प्रलय है लुट रहा उन्माद घेरे,
किन्तु जाना ही पड़ेगा इस तृषा वाहन अनल में,
आह रे उन्मत्त माँझी ! आज लहरों से निमंत्रण
आज मुखरित हो उठे दुर्दान्त यह दारुण समर्पण,
यह भयंकर लालसा अब, ले चलो नौका अतल में
बाँध दे लहरें तरी से हम पथिक तूफान धारी,
चिर विसर्जन स्वप्न सजते हम मरण-वाहन पुजारी,
क्षुब्ध गति का स्रोत प्रशिक्षण ले चलो नौका अतल में,

इस पिपासा के भँवर में प्रज्ज्वलित आवर्त चलते,
लुट रहा उद्दाम यात्री श्वास के संचय निकलते,
यह गहावाणी अलक्षित गर्त है विस्फोट जल में?
यह विफल तृष्णा पराजित प्राण की जलती निशानी,
यह अकंपित-सी तरी व्याकुल पथिक की चिर कहानी,
आज नूतन पथ सजाते ले चलो नौका अतल में।

(मधूलिका से)

प्रभाती

उषा के अलसित नयन खुले।

निशा-परी के नखत चुम्बनों से मधु मुग्ध धुले,

उषा के सस्मित नयन खुले।
रजत तुहिन से ढुलक स्वप्न दल,
मुकुल कंज कोषों में चंचल,
ज्योत्स्ना के फेनों से गत पल—

ढूँढ़ रहे कल पवन-गान में मधुकण सदृश धुले।
ला भरी, छबि विस्मित वन-श्री
अँगड़ाई लेती यौवन-सी
पुलक उठी लहरों में सरसी;

नव कलियों के अधर-दलों पर सौरभ गान ढुले।

तुम भी किरण-बाल जागो अयि !
कनक-लता सी, चिर सोहागमयि !
रजनी भर चुम्बन मरंदमयि !
दो बिखेर जग के प्रांगण में, उर मद-मन्द डुले ।

(अपराजिता से)

"कल्याण के सम्पादक को भेजे हुए

का क्रमांक :
१३०।व ४०।ज।

छायावाद में — प्रसाद, पंत,
निराला और महादेवी वर्मा
ये चार कवि प्रधान हैं"।



सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग